ॐ

अनुभवप्रकाश

: लेखक :

स्व० पं० दीपचंदजी शाह, कासलीवाल

: अनुवादक :

श्री मगनलालजी जैन

: प्रकाशक :

श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्राप्ति-स्थान :

- श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट,
  ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर–३६४००१
- श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
  सोनगढ़–३६४२५० (सौराष्ट्र)

□

गुजराती भाषामें—प्रथम आवृत्ति प्रत २१०० वीर नि. सं० २५०२

□

हिन्दीभाषामें—प्रथम आवृत्ति : प्रत २००० वीर नि. सं० २५११

मूल्य : ३–०० (लागत कीमतका ७५%)

□

मुद्रक :
सुमति प्रिन्टिंग प्रेस,
पालीताणा रोड, सोनगढ़–३६४२५०



પરમોપકારી પૂજ્ય ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

अहो ! उपकार जिनवरका, कुन्दका, ध्वनि दिव्यका ।
जिनके, कुन्दके, ध्वनिके दाता श्री गुरुकहानका ॥

प्रकाशकीय

इस "अनुभवप्रकाश" ग्रन्थके रचयिता (स्व०) श्री दीपचंदजी कासलीवाल (शाह) जयपुर-निवासी थे, आप आमेरके एक अमीर गृहस्थ थे। आप आध्यात्म-विद्याके मर्मज्ञ विद्वान थे। आपके जीवन-परिचयसे संबंधित अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है, अतएव आपका अधिक परिचय देना सम्भव नहीं है। परन्तु आपकी रचनाओंकी शैलीपर-से ऐसा स्पष्ट जाननेमें आता है कि आप अध्यात्मप्रेमी और सिद्धान्त-ज्ञानी थे।

इस ग्रन्थके अतिरिक्त आपकी रचनाएँ 'अनुभवविलास,' 'आत्मावलोकन,' 'चिद्विलास,' 'परमात्मपुराण,' 'स्वरूपानंद-बृहत् तथा लघु,' 'ज्ञानदर्पण,' 'गुणस्थानभेद,' 'उपदेशरत्न,' 'अध्यात्मपच्चीसी' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

यह 'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थ आत्मानुभवका छोटा-सा परन्तु भाव-वाही गद्य-ग्रन्थ है, इसमें आत्माका स्वरूप, स्वरूप-प्राप्तिका उपाय, साध्य-साधकभेद, अनुभव-वर्णन, निश्चयधर्म-मोक्षमार्ग, समाधि-वर्णन आदि विषयोंकी संक्षिप्त चर्चा है; आत्मरसके आस्वादनकी रीति (विधि) बतलायी गयी है। आपने, पूर्वाचार्यों द्वारा रचित उक्त विषयके आध्यात्मिक ग्रन्थों-परमागमोंका वर्णन अपनी मौलिक शैलीमें किया है।

स्वानुभूति-विभूषित, आत्मज्ञ पू० गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा वर्तमानमें अध्यात्म-रसकी क्रान्ति हुई है। आपके प्रतापसे ही भारतवर्षमें व्यापकरूपसे तत्त्व-प्रचार हो रहा है; इसी क्रममें सत् साहित्यका प्रकाशन इस ट्रस्ट द्वारा भी हो रहा है।

यह ग्रन्थ मूलमें ढूंढारी-भाषामें है। इस ग्रन्थमें वर्णित स्वात्मानुभव-रसको प्रकट करने तथा उसके प्रयोगकी विधिसे सभी लाभान्वित हो—ऐसी भावनासे इस ग्रंथका पूर्वमें गुजराती भाषामें, तदन्तर सुगम हिन्दी भाषामें अनुवाद कराकर प्रकाशित किया है। भाषा परिवर्तनकार श्री अमृतलाल झाटकीया, श्री सोमचंद अमथालाल एवम् श्री मगनलालजी जैनका हार्दिक आभार मानते हैं। साथ ही सुमति प्रिन्टिंगप्रेस, सोनगढ़ने यथाशीघ्र इस ग्रंथका सुन्दर मुद्रण किया है, तदर्थ आभारी हैं। इस ग्रन्थका मूल्य घटाने हेतु जिन्होंने रकम दी है, उनका भी आभार मानते हैं।

इस अनुभवप्रधान ग्रन्थका अमृत-पानकर हरएक मुमुक्षु आत्मानुभव-प्राप्त करें—इसी भावना पूर्वक...

भावनगर, —ट्रस्टीगण

दिनांक : १, सितम्बर, १९८५ वीतराग सत्त साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

"अनुभवप्रकाश" (हिन्दी) के प्रकाशनार्थ प्राप्त रकम :

१००१=०० श्रीमती पन्नादेवी धर्मपत्नी श्री मांगीलालजी जैन, आगरा

विषय-सूचि

अनुभवप्रकाश-वचनामृत

जो यह (ज्ञान) परमें अपनेको जानता है, वह ज्ञान ही निज जानगी है। यह निज ज्ञान जानगी पहिचान-पहिचानकर बहुतसे संत अजर-अमर हुए।

चिदानंद अपनेको भूला है, परमे अपनेको जाना है, स्वयं अपनी भूल मिटाकर सदा उपयोगधारी आनन्दरूप स्वय स्वयमेव ही यत्न बिना (सहज) बना है। अतः निजको निहारनेका ही कार्य (कर्तव्य) है।

(तेरा राजा) निजज्ञान महिमाको छिपाकर बैठा है (उसे) तू पहिचान। यह गुप्तज्ञान होनेपर (तेरा) राजा छिपा हुआ नहीं रहेगा।

अपना निधान अपने पास है (उसे) पहिचानते ही सुख होता है।

यह हमारा अखंडविलास सुख निवास इस अनुभव-प्रकाशमें है। वचनगोचर नही है, भावनागम्य है।

भगवान्‌की भावनासे संत-महंत हुए। मैंने भी इसी भावनाके अवगाढ़ स्वभका निरूपण किया है। सम्यग्दृष्टिको ऐसा निरन्तर अभ्यास रहता है।

मतिज्ञानीको स्वरूपका प्रभाव एक अंशमें ही ऐसा जगा कि केवलज्ञानकी शुद्धता प्रतीति द्वारा हुआ इससे अशुद्धत्व-अंशको भी अपना नहीं मानता।

मेरे दर्शन-ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है। जानपना मेरेमें है ऐसी प्रतीति करने पर आनन्द हो वह निर्विकल्प सुख है। ज्ञान-उपयोग आवरणमें गुप्त है। ज्ञानमें आवरण नहीं है।

आत्मपरिणतिमें आत्मा है। 'मैं हूं' ऐसी परिणति द्वारा आत्मा प्रकट होता है। आत्मामें (स्वयंमें) परिणति आयी, "मैं हूं" पनेका मान्यता स्वपदका साधन है।

चिदानन्दकी भावनासे (चिदानन्दको भानेसे) चित्परिणति शुद्ध होती है। चित्परिणति शुद्ध होने पर चिदानन्द शुद्ध होता है। अनात्मपरिणाम मिटाकर आत्मपरिणाम करना ही कृतकृत्यपना है।

परमात्मभावना करते-करते परमात्मपद निकट आए तब परमात्माके तेजसे मन पहलेसे ही मर मिटता है।

जहाँसे परिणाम उठे उसमें परिणाम लगाए; (किन्तु) ज्ञानको रोकें ऐसे परिणाम न करे। परिणामतरंग चेतना अंतरंग अभंगअंगमेंमें लीन होती रहे।

स्वपदका निवास स्वपदमें है। बहिरंग-संगमें ढूंढ़-ढूंढ़कर व्याकुल हुआ।

संतपुरुषके प्रतापसे अनन्तगुणमय चिदानन्द (निज) परमात्मा तुरन्त प्राप्त करता है। जहाँ तक पर-पदमें अपनत्व है तबतक सरागी होकर व्याकुल रहता है। ज्ञानदृष्टिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रको एक पदस्वरूप अवलोकन करनेसे ही परमान्यता तो तुरन्त नष्ट होती है।

मेरा ज्ञान (वही) मैं हूं; पर विकार पर हैं। जहाँ जहाँ जानपना वहाँ वहाँ "मैं" ऐसा दृढ़भाव सो सम्यक्त्व है, वह सुगम है।

चिदानन्द! तेरा तो आश्चर्य होता है कि दर्शन-ज्ञानशक्ति विद्यमान होने पर भी (तूने) अविद्यमान कर रखी है।

बलजबरीसे ठीकरीको रुपयेमें चलाये तो नहीं चलेगी। अपनी भूल नहीं छोड़े तो दुनियामें अपनी हँसी आप करायेगा। ...इस जीवकी अनादिकालसे जगतमें हँसी हो रही है फिर भी लज्जित नहीं होता। फिर-फिर उसी झूठी रीतिको ग्रहण करता है।

जिसकी बात करनेसे भी अनुपम आनन्द हो ऐसा अपना पद है, उसे तो ग्रहण नहीं करता (और) पर वस्तुकी ओर देखते ही—चौरासीका बंदीखाना है—उसे रुचि-पूर्वक सेवन करता है। ऐसी विपरीतरूप हठ रीतिको अनुपम मान-मानकर हर्ष प्राप्त करता है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है तथापि संसार-कूपमें गिरता है, यह बड़ा आश्चर्य है।

अपने अवलोकनमें अखण्डरसधारा बरसती है, ऐसा जानकर निजको जानकर, परमान्यता मिटाये।

स्वरूपमें बराबर (यथार्थ रीतिसे सम्यक् प्रकारसे) सुस्थिर होने पर गति-भ्रमण मिटता है। इसलिए जो स्वरूपमे सदा स्थिर रहे, उसे धन्य है।

परवस्तुको अपनेरूप जानता है (और) अपनेको पर जानता है। इससे लोकालोकको जाननेकी सर्वशक्ति अज्ञानभावरूप परिणमी है।

स्वरूपसे परिणामोंका बाहर जाना ही ससार है, स्वरूपाचरणरूप परिणाम ही साधक अवस्थामें मोक्षमार्ग, और सिद्धअवस्थामें मोक्षरूप है। जितने-जितने अंशमें ज्ञानबलसे आवरणका अभाव हुआ उतने-उतने अंशमें मोक्ष नाम पाया।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

卐 अनुभव प्रकाश 卐

मं ग ला च र ण

(दोहा)

[1] गुण अनंतमय परमपद, श्री जिनवर भगवान् ।
ज्ञेय लखत[2] हैं ज्ञानमें, अचल सदा [3]निजस्थान. ॥

परमदेवाधिदेव, परमात्मा, परमेश्वर, परम पूज्य, अमल, अनुपम, आनंदमय, अखंडित, भगवान्-निर्वाणनाथको नमस्कार कर श्री [4]अनुभव प्रकाश नामका ग्रन्थ करता हूँ, जिनके प्रभावसे पदार्थका स्वरूप (यथार्थ प्रकारसे) जानकर निज आनंद उत्पन्न होता है।

प्रथम; यह लोक छह द्रव्योंका बना है उसमें पांच द्रव्योंसे भिन्न सहज स्वभावरूप सच्चिदानन्दादि अनन्तगुणमय चिदानन्द (आत्मा) है। वह (चिदानन्द आत्मा) अनादि कर्मसंयोगसे अनादि अशुद्ध हो रहा है। (उसमें) परपदको अपनत्व मानकर परभाव किये इसलिए जन्मादि दुःख सहन करता है। ऐसी दुःख परिपाटी अपने अशुद्ध चिन्तवनसे हुई है। यदि वह अपने स्वरूपकी संभाल करे तो एक क्षणमें सर्व दुःख विलयको प्राप्त हों और जैसा शाश्वत आनन्दमय परमपद है उसे प्राप्त कर ले। (वह पद कोई अन्य वस्तु

---

१. अर्थ :—श्री जिनवर भगवान् अनन्तगुणमय परमपदस्वरूप हैं। वे निज-स्थानमें सदा अचल रहते हुए ज्ञानमें ज्ञेयको जानते हैं।

२. पाठान्तर—'लख्य'

३. पाठान्तर—'जिनस्थान'

४. पाठान्तर—'अनुभौ'

नहीं है परन्तु अपना ही स्वरूप है।) उसको संभाल करनेसे ही स्वरूपकी प्राप्ति होती है उसका उपाय बतलाते हैं, जो परिणाम उलटे परमें अपनत्व मानकर स्वरूपका विस्मरण कर रहे हैं वे ही परिणाम सुलटकर स्वरूपमें अपनत्व मानकर परका विस्मरण करे तो मुक्ति-कामिनीका कथ होता है।

प्रश्न :–ऐसे परिणाममें कुछ क्लेशतो नहीं (तो) ऐसे परिणाम (चिदानंद आत्मा) क्यों नही करता ?

उत्तर :–अनादिकालसे (यह जीव) अविद्यामें (मिथ्यात्वमे) पड़ा है, मोहकी निविड़ ग्रन्थि पड़ी है। आत्मा और परका एकत्व-संधान हो रहा है। जिसप्रकार किसी पुरुषको अफीमका नशा चढ़ा है, वह दुःख प्राप्त करता है, परन्तु छूट नहीं सकता है। किसलिए ? कि (अफीम) बहुत चढ़ी है, छूटनेसे सुख है, क्लेश (दुःख) नही, परन्तु तलब जगने पर ले ही लेता है। उसीप्रकार यह (जीव) परके मोहसे बँध रहा है, छूटनेसे सुख है परन्तु छूटता नही है। अनादि संयोगसे छूटने पर सुख होता है तथापि व्यर्थ ही दुःख मानता है। इसको मिटानेके लिए आत्मा और परके एकत्वसंधानमें प्रज्ञाछेनी डाले, चेतना अंश-अंशको अपना जाने, जिसमें जड़का प्रवेश नहीं है। किस प्रकार जाने ? सो कहते हैं :–

जो यह (ज्ञान) परमें अपनेको जानता है, वह ज्ञान ही निज बानगी है। यह निजज्ञान बानगीको पहिचान-पहिचानकर बहुतसे संत अजर-अमर हुए। उसे कथन मात्र ग्रहण न करे, (उसे मात्र कहने जितना ही न रखे) परन्तु चित्तको चेतनामें लीन करे, स्वरूप अनुभवका विलास सुख-निवास है उसे करे। (स्वरूप अनुभवका जो सुख रस उसमें चित्तको रमाये) वह किस प्रकार करे सो कहा जाता है।:–

निरन्तर अपने स्वरूपकी भावनामें मग्न रहे, दर्शन-ज्ञान चेतनाके

प्रकाशको (अपने) उपयोग द्वारमें एकतासे भाये (चिंतवन करे) (तो) चिद्‌परिणतिसे स्वरूपरस होता है। द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थ अनुभवना ही अनुभव है। अनुभवसे पंच [1]परमगुरु हुए व होंगे। वह अनुभवका ही प्रसाद है। अरहंत-सिद्ध भी इस अनुभव-आचरणका सेवन करते हैं। (स्वरूप) [2]अनुभवमें अनंतगुणोंके सब रस आते हैं, सो (यहाँ) कहा जाता है:—

[3]ज्ञानका प्रकट प्रकाश अनंतगुणोंको जानता है। ज्ञानरूपी विशेष गुणको परिणति परिणमे, वेदे, आस्वादे वहाँ अनुपम आनंद-फल उपजता है। इसप्रकार दर्शनको परिणति परिणमे, वेदे, आस्वादे (और) सुखफल उपजता है। इसीप्रकार सर्व गुणोंको (परिणति) परिणमे, वेदे, आस्वादे, (जिसप्रकार) आनंद अनंत, अखंडित, अनुपम-रस, (सहित) उपजता है। इसलिए सर्वगुणोंके रसका परिणति द्वारा अनुभव कराया गया है। इसीप्रकार द्रव्यको परिणति परिणमे-वेदे आस्वादे (और) आनंद प्राप्त करे। तब परिणति द्वारा द्रव्यका अनुभव हुआ। [4]'अनुभव प्रकाश' गुणपरिणति एक रस होने पर होता है। (यही) वस्तुका स्वरूप है। (जो सर्वगुण-रसके पुंजरूप है) उस चेतना गुणका संक्षेपमात्र (यहाँ) वर्णन किया जाता है:—

---

१. पंच परम गुरु जे भये, जे होंगे जगमांहि;
ते अनुभौ परसादतैं, यामैं धोखो नांहि। १५७।

२. गुण अनन्तके रस सबै, अनुभौरसके मांहि;
यातैं अनुभव मारिखो, और दूसरौ नांहि। १५३।

—ज्ञानदर्पण

३. पाठान्तर—'ज्ञानका प्रकट प्रकाश अनन्तगुणकी परिणति परिणवै वेदै, आस्वाद करै'।

४. पाठान्तर—'अनुभवका रस'

सर्व गुणोंमे ज्ञान (गुण) प्रधान है। काहे से ? कि ज्ञान विशेष चेतना है। ज्ञान सर्वका ज्ञाता है। (तथा ज्ञान सूक्ष्म है) सूक्ष्म न होता तो (वह) इन्द्रिय ग्राह्य होता, इसलिए सूक्ष्मता द्वारा ज्ञानकी सिद्धि है। सत्तागुणके बिना सूक्ष्म शाश्वत न होता। वीर्य-गुणके बिना सत्ताका निष्पति सामर्थ्य कहाँसे होता ? अगुरुलघु गुणके बिना वीर्य हलका, भारी होनेसे जडताको धारण करता। प्रमेयत्व गुणके बिना अगुरुलघुगुणका प्रमाण कहाँसे होता ? अप्रमाण होने पर (उसे) कौन मानता ? वस्तुत्वके बिना प्रमाण किसका कहे ? अस्तित्वके बिना वस्तु किसके आधारसे कहे ? प्रदेशत्वके बिना अस्तित्व किसका निरूपें ? प्रभुत्वके बिना प्रदेश-प्रभुता कहाँसे रहती ? विभुत्वके बिना प्रभुता सर्वमें किसप्रकार व्याप्त होती ? जीवत्वके बिना विभुत्व अजीव होता। चेतनाके बिना जीवत्व कहाँ वर्तता ? ज्ञानके बिना चेतनका विशेष जाननेमे नही आता। दर्शनके बिना सामान्य-विशेष ज्ञान नही रहता। सर्वज्ञताके बिना दर्शनको कौन जानता ? सर्वदर्शित्वके बिना ज्ञानको कौन देखता ? चारित्र चेतनाके बिना दर्शन-ज्ञानकी स्थिरता कैसे रहती ? परिणामात्मकत्व (परिणाम स्वरूपना) के बिना चिद् (चेतन) चिद्विलासको कहाँसे करता ? अकारणकार्यत्वके बिना परकार्य होने पर निजकार्यका अभाव होता। असंकुचितत्वके बिना अविनाशी चेतनाका विलास संकोचमे आता। त्यागउपादान-शून्यत्वके बिना ग्रहण-त्याग लगा रहता। अकर्तृत्वके बिना कर्मका करता होता। अभोक्तृत्वके बिना परभाव को भोगता। असाधारण बिना चेतन-अचेतनका भेद न पड़ता। साधारणके बिना कोई पदार्थ सत् होता, कोई असत् होता। तत्त्वके बिना वस्तु स्वरूपको न धरती। अतत्त्वके बिना परका तत्त्व (निजमें) आ जाता। भावके बिना स्वभावका अभाव होता। भाव भावके बिना भूतकालका भाव भविष्यकालमें न रहता। भावाभावके बिना परिणमन समयमात्र (समयसमयका) न

संभवता। अभावभावके बिना अनागत (भावी–भविष्यका) परिणमन न आता। अभावके बिना कर्मका सद्भाव (अपनेमें) जाननेमें आता रहता। [1]सर्वथा अभाव-अभावके बिना अतीतमें (भूतकालमें) जो कर्म अभावरूप था वह अनागत (भविष्य) कालमें अभावरूप हो ऐसा न होता। कर्ताके बिना निज कर्मका कर्ता न होता। कर्मके बिना स्वभाव कर्मका अभाव होता। कारणके बिना परिणमन द्वारा जो स्वरूपका साधन था वह न होता। संप्रदानके बिना परिणति स्वरूपमें स्वयं समर्पण न कर सकता (नहीं करता)। अपादानके बिना अपने द्वारा अपनेसे आप न होता। अधिकरणके बिना सर्वका आधार न होता। स्वयंसिद्धके बिना पराधीनता आजाती। अजके बिना उत्पत्ति होती रहती। अखण्डके बिना खंडितता (खंड–खंडपना) प्राप्त होता। विमलके बिना मल होता। एकके बिना अनेक होता। अनेकके बिना अनेक गुणोका अभाव होता। नित्यके बिना अनित्य होता। अनित्यके बिना षट्गुणवृद्धिहानि न होती। तब (षट्गुणवृद्धिहानि न हो तो वस्तुमे) अर्थक्रियाकारक स्वभावकी सिद्धि न होती। भेदके बिना द्रव्य–गुण अभेद होते। अभेदके बिना एक वस्तु न होती। अस्तिके बिना नास्ति होती। नास्तिके बिना (वस्तुमें) परकी अस्तिता होती। साकारके बिना निजाकृति न होती। निराकारके बिना पराकार धारण करके (वस्तु) विनाशको प्राप्त होती। अचल स्वभावके बिना चल होती। ऊर्ध्वगमन स्वभावके बिना उच्चपद जाननेमें न आता। इत्यादि अनंत विशेषणोंका ज्ञानी अनुभव करते हैं।

ऐसा निजज्ञान (निज समझ, स्वरूपज्ञान) किस प्रकार होता है, सो कहा जाता है :—

प्रथम अनादिसे (चले आरहे) अहं–ममरूप [2]मिथ्यात्वका नाश

---

१. क, मु. प्रतमें 'सर्वथा' पाठ नहीं है।

२. पाठान्तर—'मिथ्या'

करे, फिर पर रागरूप भावका विध्वंस करे। जब पर राग मिटे, तब वीतराग हो। जब परप्रवेशका अभावभाव हुआ, तब स्वसंवेदनरूप निजज्ञान होवे अथवा अपने द्रव्य-गुण-पर्यायका विचार करके निजपदको जाने अथवा उपयोगमें [1]ज्ञानरूप वस्तुको जाने। अनंत महिमाका भंडार, सार, अविकार, अपार शक्तिसे मंडित मेरा स्वरूप है, ऐसा भाव प्रतीति द्वारा करे। ध्यान धरने पर निश्चलता होगी, ऐसा ज्ञान जाने। निजरूप ज्ञानको ही अनुपम पदका सर्वस्व जाने। इस स्वरूपके ज्ञान बिना परकी मान्यता करके ससारी दुःखी हुए। वह परकी मान्यता किस प्रकार मिटे? यह कहा जाता है:—

भेदज्ञान द्वारा पर और निजके अंश-अशको अलग-अलग जाने। मैं उपयोगी, मेरा उपयोगीत्व ग्रन्थ गाते हैं। मैं देखता-जानता हूँ। (मैं देखने-जाननेवाला, ज्ञाता-दृष्टा हूँ।) ऐसा निश्चय बराबर (यथार्थ) करने पर आनंद बढ़ता है। पर परिणतिको (मैंने) अपनी की है। (वह मैं) न करूं तो (ऐसी) मान्यता न हो। मैंने अपनी परमें मान्यता की, अब मैं निजमें (निजरूप) मानु तो मानते ही मुक्तिके साथ मेरी सगाई हुई। अवश्य वर होऊँगा। कर्मके भरमका (कर्मभावमें अहंपनेका भ्रम) विनाश होनेपर निज सुख होता है। वह निज सुख किस प्रकार हो वह कहा जाता है:—

मेरा अनंतसुख मेरे उपयोगमे है। वह मेरा उपयोग तो सदा मैं धरता हूँ। मैं उपयोगको भूल अनुपयोगमें अनादिसे रत हो-हो कर सुखस्थानक चेतना-उपयोगको भूला, इसीलिए सुख कहाँसे हो?

अब मैंने उस उपयोग प्रकाशको साक्षात् योग्यस्थानरूप किया। किस कारण कि "मैं नर"। ऐसी मान्यता (इस) जड़रूप मनुष्य शरीरमें तो न हो, (यह मान्यता) मेरे उपयोगसे हुई है; तो ऐसी मान्यताको करनेवाला मेरा उपयोग अशुद्ध स्वांग सजकर (धर कर) बैठा है।

---

१. पाठान्तर—'आप'

जिस प्रकार कोई एक नट बैलका स्वांग धरकर आया है, परमें अपनेको भूला है, परमें अपनेको जाना है। (वह) पूछता है कि 'अब मैं' मनुष्यकी पर्याय कब प्राप्त करूंगा? वह झूठ ही पूछता है, (स्वयं) मनुष्य ही है। भूलसे यह रीति हुई है, (भ्रमवश ऐसा भूल भरा आचरण हुआ है)। उसी प्रकार चिदानंद अपनेको भूला है, परमें अपनेको जाना है, स्वयं अपनी भूल मिटाकर, सदा उपयोग धारी आनंदरूप स्वयं स्वयमेव ही यत्न बिना (सहज) बना है, अतः निजको निहारनेका ही कार्य (कर्तव्य) है, (सदा उपयोगधारी आनंदरूप स्वयमेव स्वयं ही है, अपना काम तो अपनेको निहारने जितना ही है)। निज श्रद्धा आते ही निज अवलोकन होता है। यह श्रद्धा कहाँसे होती है सो कहा जाता है:—

प्रथम सर्व लौकिक रीतिसे पराङ्मुख होकर निज विचार सन्मुख हो। चिदानद[1] राजा कर्मकंदरामें (कर्मरूपी गुफामें) छिपा हुआ है। कर्मकदरा तीन हैं। पहली (शरीरादि) नोकर्म गुफा, दूसरी (ज्ञानावरणादि) द्रव्यकर्मगुफा, तीसरी (रागद्वेषादि) भावकर्मगुफा। पहली नोकर्मगुफामें परिणति गई कि अपना राजा देखूं। वहाँ उसे कुछ दिखाई नही दिया, चक्करमें पड़ गई, तब (वह परिणति) फिरने लगी। तब श्री गुरुदेवने कहा कि, 'तू क्या खोजती है? तब वह परिणति बोली कि, 'अपने राजाको खोजती हूं, परन्तु वे नहीं मिले। तब श्रीगुरुने कहा कि तेरा राजा यहाँ ही है। (अब यहाँसे) वापिस मत लौटना। यहाँसे तीसरी गुफा है वहाँ (तेरा राजा) बसता है। उसके (राजाके) हाथकी डोरी इस गुफा तक आई है। तो यह डोरी उसके हाथकी हिलायी हिलती है। यदि वह न हो तो डोरी अपने आप न हिले। इसलिए विचारकर इस शक्ति अथवा डोरीका अनुसरण करके चला जा। कर्ममें उसकी क्रिया देख, कि

1. पाठान्तर—'निजराजा'

डोरी कौन हिलाता है ? द्रव्यकर्मगुफाके अंदर प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग ऐसे नाम उसके (राजाके) निमित्तसे पड़े हैं। उसकी (राजाकी) परिणति जैसी-जैसी हुई वैसी-वैसी वर्गणा बँधी। वहाँ भी उसकी (राजाकी) बनी हुई सत्तासे द्रव्यकर्मका नाम पड़ा तथा उसके भावोंके निमित्तसे पुद्‌गल विविध कर्मोंके नामको प्राप्त हुए।

भावकर्मगुफामें राग-द्वेष-मोहके प्रकाशमें छिपा हुआ स्वरूप रहता है। वह प्रकाश तेरे राजाका अशुद्ध स्वांग है। उसमें तू खोज कर, डर मत, निःशंक हो, इस रागद्वेषमोहकी डोरीके साथ जा कर खोज। (यह रागद्वेषमोहकी डोरी) जिस प्रदेशसे उठी वही तेरा राजा है। डोरीको देख मत। जिसके हाथमें डोरी है उसे पकड़नेसे तुरंत मिलेगा। (तेरा राजा) निज ज्ञान महिमाको छिपाकर बैठा है। (उसे) तू पहिचान। यह गुप्तज्ञान होने पर (तेरा) राजा छिपा हुआ नहीं रहेगा। (वहाँ तू) चेतनाप्रकाशरूप चिदानद राजाको प्राप्त करके सुखी होगा। (यह तुझे मैंने) निजसुखका उपाय कहा। यह निजसुख तो निजउपयोगमें कहा। (फिर भी यह सुख) दुर्लभ क्यों हो रहा है? वह कहा जाता है :—

इस परिणामभूमिकामें मोहमदिरा पीकर अविवेकमल्ल उन्मत्त होकर विवेकमल्लको जीतकर जयस्तम्भ गाडकर बलवान बनकर खड़ा है। इससे अपनी सुखनिधिका विलास नहीं करने देता। विवेकमल्लका जोर होते ही अविवेकका हनन होता है। तब निजनिधि विलसित होती है, पररुचिरूप मिथ्या आहारका सेवन करने पर (आत्माको) मिथ्याज्वर आया, तब विवेक निर्बल हुआ। इसलिये स्व-आचाररूप पारेको श्रद्धारूपी बूटीके पुटसे सुधारकर (शुद्ध करके) उसका सेवन करे तो विवेकमल्ल मिथ्याज्वर मिटाकर सबल होकर अविवेकको पछाड़ दे, तब आनन्दनिधिका विकास (स्वयं) हो। स्व-आचार क्या है? श्रद्धा कैसे हो? सो कहा जाता है:—

इस अनादि संसारमें अनादिकालसे (मैंने) परविचार किया। (सो) मेरी ज्ञानचेतना अशुद्ध हुई। अब स्वआचाररूप पारेका सेवन किया जाए, तो अविनाशी पदसे भेंट हो। (उस अविनाशी पदसे भेंट करनेके लिए) मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? (वह) कैसे प्राप्त किया जाए? (उसका विचार करना चाहिए)। (फिर विचारना कि) प्रथम (मूल) पद अपना उपयोग प्रकाश है, (एक) दर्शनज्ञान उपयोग (दूसरा) चारित्र उपयोग। दर्शन देखता है, ज्ञान जानता है, चारित्र परिणाम द्वारा आचरण करता है। ऐसे (पर) ज्ञेयका देखना, जानना, आचरना अनादिसे किया, (परन्तु) अपने विशुद्ध पदमें उपयोग नहीं दिया (नहीं लगाया)। अतीन्द्रिय (स्वाधीन) सुखकी प्राप्तिके बिना (मैं) खाली रहा। अनन्त तीर्थंकर हुए, उन्होंने स्वरूप शुद्ध किया, अनन्त सुखी हुए। अब मुझे भी उसी प्रकार (उन्हींकी तरह) स्वरूप शुद्ध करना है।

महामुनिजन निरंतर स्वरूप सेवन करते हैं। इसलिए (मुझे भी) अपने त्रैलोक्य पूज्य, सर्वोत्कृष्ट पदका अवलोकन करके (निज) कार्य करना है। कर्मघटामें मेरा सूर्य छिपा हुआ है। मेरे स्वरूप-सूर्यका प्रकाश कर्म घटामें जरा भी नष्ट नहीं हुआ, (मात्र) अवरुद्ध है। चाहे जितना (कर्म) घटाका जोर हो, (फिर भी वह) मेरे स्वरूपको नष्ट नहीं कर सकता, चेतनको अचेतन कर नहीं सकता। मेरी ही भूल हुई है। अब स्वपद भूला (हूँ) तो भूल ही मिटाऊँ। (क्योंकि) मेरा स्वपद ज्योंका त्यों ही बना हुआ है।

जैसे—कोई रत्नद्वीपका पुरुष था। वहाँ रत्नोंके मंदिर थे। (वह) रत्नसमूहमें रहता था। [1]परख नहीं जानता था। (परखना नहीं आता था।) (वह) अन्य देशमें आया, (अपने) कटिसूत्रमें

१. परख=परीक्षा, पहचान, अथवा गुण और दोषकी यथार्थ निर्णायक दृष्टि

हरिकांतमणि थे। एक दिन (वह) सरोवरमें [1]स्नान करने गया। जौहरीने देखा (कि) उसकी मणिप्रभासे सरोवरका पानी हरा हो गया है। तब (वह जौहरी) उसके पाससे नग लेकर इस पुरुषको राजाके पास ले गया। (उस जौहरीने राजासे) एक नगके मूल्यमें करोड मंदिर भर जाएँ इतनी दीनार (सोनामोहर) उसे दिलाई। तब वह (रत्नद्वीपका) पुरुष पछताया। मेरा निधान मैंने नहीं पिछाना। उसी प्रकार अपना निधान अपने पास है। (उसे) पिछाननेसे ही सुख होता है। मेरा आत्मा ज्ञानदर्शनका धारक चिदानंद है। मेरा स्वरूप अनंत चैतन्यशक्तिसे मंडित अनंत गुणमय है। मेरे उपयोगके अधीन वह बना रहा है। मैं मेरे परिणामरूप उपयोगको मेरे स्वरूपमें धरूँगा, अनादिका दुःख मिटाऊँगा (और) परमपद प्राप्त करूँगा। स्वरूप प्राप्त करनेकी यह सुगम राह है। दृष्टिगोचर करना ही दुर्लभ है। संतोंने उस मार्गको सुगम बना दिया है। उनके प्रसादसे मैंने (उस मार्गको) प्राप्त किया है।

यह हमारा अखंड विलास-सुख निवास-इस अनुभवप्रकाशमें है। वचन गोचर नहीं है, भावनागम्य है। यह मेरे ज्योतिस्वरूपका प्रकाश मैं हूँ। (वह मेरा ज्योतिस्वरूपका प्रकाश) प्रकट इस घटमें प्रकाशता है, वह देखता है, छिपा हुआ नहीं है, उसे गोप्य कैसे मानूँ? रहस्य

---

१. पठान्तर—ख प्रतिमें यह पाठ निम्नरूपमें दिया है—

"सो एक दिन सरोवरको पाणी पीवानको गयो, तब उस नरकौं जौहरीने देख्या, पाणी हरा भया, भाव जाण्या याके पास नग है, तब जौहरीने पिछाण्या यह परख न जाने है।"

[वह एक दिन सरोवरका पानी पीने गया, वहाँ उस पुरुषको जौहरीने देखा, पानी हरा हुआ। (तब) भाव (अर्थ) जाना। इसके पास नग (मणि) है। तब जौहरीने पहिचाना कि यह (मणिकी) परख नहीं जानता।]

वस्तुको अवस्य कैसे कहूँ ? वस्य (वस्तु) अवस्य नहीं होती । पूर्वमें झूठे तरीकेसे ही इसको (अन्यवस्तुको) अवस्य मानी थी । अनादिसे उसके फलसे दु:ख होता था । (अब) शरीरको आत्मा कैसे मानूँ ? वह तो रक्तसे, वीर्यसे, सात धातुका बना हुआ जड़, विजातीय, विनश्वर व पर है, सो वह मेरी चेतना नहीं है। ज्ञानावरणीय वर्गणा विजातीय, स्वरूपका आवरणरूप, अचेतन, बंधक, विनश्वर और रसविपाक हीन है, सो मेरी नहीं है । विभाव स्वभावको मलिन करता है, कर्म-उदयसे हुआ है, (वह) मेरा नहीं है । मेरा चेतनापद मैंने प्राप्त किया । ज्ञान लक्षणसे लक्ष्यको (चैतन्यको) पहिचानकर स्वरूपश्रद्धासे आनन्दकंदकी केलि (खेल) करके (मैं) सुखी हो रहा हूँ। वह आनंदकंदकी केली स्वरूपश्रद्धासे कैसे होती है वह कहा जाता है :—

अनन्तचैतन्य चिह्न सहित अखंडित गुणपुंजके और पर्यायके धारक द्रव्यका-ज्ञानादिगुणपरिणतिरूप और पर्याय-अवस्थारूप वस्तुका निश्चय हुआ ।

ज्ञान जाननेमात्र, दर्शन देखनेमात्र, सत्ता अस्तित्वमात्र, (तथा) वीर्य वस्तुनिष्पन्नसामर्थ्यमात्र केवल ऐसे प्रतीतिभावको रुचि भावको आस्तिक्यतारूप श्रद्धानको श्रद्धा कहे । उससे (उस श्रद्धासे) उत्पन्न हुए आनंदकंदमें केलि करके मैं सुखी होता हूँ, जाननेसे जो आनन्द होता है वह ज्ञानानन्द, स्वरूपको देखनेसे जो आनन्द होता है वह दर्शनानन्द, परिणमनसे जो आनन्द होता है वह चारित्रानन्द (है)। ऐसे सर्व गुणोंके आनन्दका मूल निजस्वरूप आनन्दकन्द उसकी केलि स्वरूपमें (अपनी) परिणतिको रमाना (वह है।)। अत: सुखसमूह हुआ हूँ। इससे (अन्य कोई) ऊँचा उपाय नहीं है । (परम कृपालु) भगवान्‌ने भव्य जीवोंको वह शिवराह (शिवमार्ग, कल्याणमार्ग, मोक्षमार्ग) [1]सोहला बताया है । भगवान्‌की भावनासे संत-महंत हुए। मैंने भी इसी भावनाके अवगाढ़ स्तंभका निरूपण किया है । सम्यग्-

---

१. सोहला = सुगम, सरल, सुखदायक, सुन्दर, सुहावना ।

दृष्टिको एसा निरन्तर अभ्यास रहता है। [1]कर्मके अभावमें स्वरस-मंडित सुखका पुंज प्रकट हो तब ज्ञान कृतकृत्य होता है। इस आत्माका स्वरूप गुप्त हो रहा है। (वह) साक्षात् कैसे हो ? परोक्षज्ञान द्वारा भावना बढानेसे (वह साक्षात् होता है)। कैसे सिद्ध हो वह कहा जाता है :—

जैसे दीपकके पाँच परदे है। एक परदा दूर होने पर सूक्ष्म प्रकाश हुआ। दूसरा परदा दूर हुआ तब ज्यादा प्रकाश हुआ। तीसरा जाने पर और ज्यादा प्रकाश हुआ। चौथा जाने पर उससे भी ज्यादा हुआ। (और) पाँचवाँ गया तब निरावरण प्रकाश हुआ। इस प्रकार ज्ञानावरणके पाँच परदे है। मतिज्ञानावरणके जाने पर स्वरूपका मनन किया। अनादिसे पर मनन था वो मिटा, फिर अनन्तर ऐसी प्रतीति हुई कि जिस प्रकार कोई पुरुष दरिद्र है, कर्जसे घिरा हुआ है, उसके पास चिंतामणि है, तब किसीने कहा, "इस चिंतामणिके प्रभावसे निधिका विस्तार हो रहा है, फलानेको फल दिया था, तो तुम भी अब निधि ले लो, साक्षात्कार होने पर सर्व फल प्राप्त करोगे"। प्रतीतिमें (तो) चिंतामणि मिलने जैसा हर्ष हुआ है। उस प्रकार मतिज्ञानीको स्वरूपका प्रभाव एक अंशमें ही ऐसा जगा कि केवलज्ञानका खुलासा प्रतीति द्वारा हुआ इससे अणुद्रव्य-अंशको भी अपना नही मानता। स्वसंवेदन [2]मतिज्ञान द्वारा हुआ है। ज्ञानप्रकाश मेरा है, इस प्रकार श्रुतज्ञानमें विचार करे। मैंने मनन किया तो मैं कैसा हूँ ?

मैं ज्ञानरूप हूं, आनंदरूप हूं। इस प्रकार चार ज्ञानके स्वसंवेदन परिणति द्वारा तो (वह) प्रत्यक्ष है, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान [3]परको जाननेसे एकदेश प्रत्यक्ष है। काहे से ? कि सर्वावधि द्वारा

---

१. पाठान्तर—"निजस्वभावतैं"

२. पाठान्तर—'मतिद्वारि'

३. मु० प्रतिमें पर पाठ नहीं है

वर्णगंधरस, परमाणुमात्र देखे, अतः एकदेश प्रत्यक्ष मनःपर्यय भी पराए (दूसरोंके) मनका जाने सो एकदेश प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है। अपना जानना ज्ञानमात्र वस्तुमें प्रतीति हुई, अतः सम्यक् नाम मिला। "ज्ञानमात्र वस्तु तो केवलज्ञान होने पर शुद्ध, जब तक केवल नहीं है तब तक गुप्त है"। सिर्फ ज्ञानमात्र वस्तुकी प्रतीति प्रत्यक्ष कर करके स्वसंवेदन बढ़ाता है। जघन्य ज्ञानी कैसे प्रतीति करे? वह कहा जाता है :—

मेरे दर्शनज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशमेंसे उठता है। जानपना मेरेमें है ऐसी प्रतीति करने पर आनंद हो वह निर्विकल्प सुख है। ज्ञान-उपयोग आवरणमें गुप्त है। ज्ञानमें आवरण नहीं है। काहेसे? कि जितने अंशमें आवरण गया उतना ज्ञान हुआ, अत. ज्ञान आवरणसे भिन्न है, वह (ज्ञान) अपना स्वभाव है। जितना ज्ञान प्रकट हुआ उतना अपना स्वभाव खुला, वह स्वयं है। इतना विशेष आवरण हटने पर भी परमें ज्ञान जाए वह अशुद्ध, जितना अंश निजमें रहे उतना वह शुद्ध। अतः केवल (ज्ञान) गुप्त है। किंतु परोक्ष ज्ञानमें निरावरणकी प्रतीति कर-करके आनंद बढ़ाएँ। [1]ज्ञान शुद्ध भावनासे शुद्ध हो वह निश्चय है। [2]कहा है कि—"या मतिः सा गतिः" इति वचनात्। (जैसी मति वैसी गति—इस वचनके अनुसार)।

अपना स्वरूप साक्षात् किस प्रकार हो वह कहा जाता है :—

प्रथम निर्ममत्वभावसे संसारका भाव अधो (गौण, मन्द, नीरस) करे। किस प्रकार करे वह कहा जाता है। जो दृश्यमान है वह सब रूपी जड़ है उससे ममत्व नहीं करना। किसलिए? कि जो सब जड़ है उसमें अपनत्व माननेसे सुख क्या? इस प्रकार शरीर

---

१. पाठान्तर—'ज्ञानी'

२. मूल प्रतिमें यह वाक्य नहीं है।

जड उसमें ममत्व नहीं करना। किसलिए? कि शरीरादि जड़में [1]अपनत्व माननेसे सुख क्या? तथा राग-द्वेष-मोह भाव, असाताभाव, तृष्णाभाव, अविश्रामभाव, अस्थिरभाव, दुःखभाव, आकुलभाव, खेद-भाव, अज्ञानभाव हैं इससे हेय हैं। आत्मभाव, ज्ञानमात्रभाव, शांतभाव, विश्रामभाव, स्थिरताभाव, अनाकुलभाव, आनन्दभाव, तृप्तिभाव, निजभाव (हैं इससे) उपादेय हैं।

आत्मपरिणतिमें आत्मा है। 'मैं हूं' ऐसी परिणति द्वारा आत्मा प्रकट होता है। आत्मामें (स्वयंमे) परिणति आयी, 'मैं हूँ' पनेकी मान्यता स्वपदका साधन है। 'मै-मै' परिणाम मै कहता हूँ।—

'मै-मै' परिणामोंने स्वपदकी आस्तिक्यता की, स्वपदपरिणाम योग्यस्थानके बिना नही होते। कायचेष्टा है वहां नही हैं, वचन-उच्चारणा है वहाँ नही हैं, मन चिन्तवन है वहाँ नही है। आत्म-पदमे अपनी मग्नता, स्वरूपविश्राम, आनन्दरूप पदमे स्थिरता, चिदानन्द, चित्परिणतिका विवेक करना।

चित्परिणति चिद्मे रमने पर आत्मानन्द उत्पन्न होता है। मन द्वारा विवेक होनेके पश्चात् मन भी एक ओर (दूर) रह जाता है। मन पर है, ज्ञान निज वस्तु है। इसप्रकार विचारनेसे वह (मन) दूर रहता है। किसलिए? कि परमात्मपद गुप्त है। उसकी मन व्यक्तभावना नही कर सकता। किसलिए? कि परमात्मभावना करते-करते परमात्मपद निकट आए तब परमात्माके तेजसे मन पहलेसे ही मर मिटता है। किसलिए? कि वीर्यवानको तेजसे कायर बिना संग्रामके (युद्ध किए बिना ही) मरता है; सूर्यके तेजसे अंधकार पहलेसे ही नष्ट हो जाता है, ऐसा (यहाँ) जानना।

चिदानन्दकी भावनासे (चिदानन्दको भानेसे) चित्परिणति शुद्ध होती है। चित्परिणति शुद्ध होनेपर चिदानन्द शुद्ध होता है। अनात्म-

---

१. पाठान्तर—"आपा मानें सुख कहा"

परिणाम मिटाकर आत्मपरिणाम करना ही कृतकृत्यपना है। योगीश्वर भी इतना करते हैं। प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि इसके निमित्त हैं। स्वरूप परिणाममें अनन्त सुख हुआ; निजपदका आलिंगन हुआ; अनुपमपदमें लीनता हुई; एक स्वरस हुआ; शुद्ध उपयोग हुआ; सहजपदका अनुभव हुआ। आत्मपरिणामकी (निजपरिणामकी) अपार महिमा है। परमेश्वर स्वपरिणाम किए बिना परपरिणामसे भटक रहा है। अपने परिणाम स्वरूपानन्दी होने पर परमेश्वर कहलाया। ऐसा प्रभाव आत्मज्ञानके परिणामका है। परिणमनसे अविनाशी पदका अपूर्व लाभ हुआ। वह परिणाम स्वरूपमें कैसे लगे सो कहा जाता है :—

परसे पराङ्मुख होकर बारम्बार स्वपदको अवलोकनेके भाव करे। दर्शन-ज्ञान-चारित्र चेतनाका प्रकाश यथायोग्य (यथास्थानरूप) कर-करके स्वरूपपरिणति करे। आत्मज्योति अनात्मासे भिन्न अखण्ड प्रकाश-आनन्द-चेतनास्वरूप चिद्विलासका अनुभवप्रकाश [१]परिणाम द्वारा प्रकाशे। जहाँसे परिणाम उठे उसमें परिणाम लगाए, (किन्तु) ज्ञानको रोके ऐसे परिणाम न करे। परिणाम तरंग चेतना अतरंग अभंग अंगमें लीन होती रहे। अमरपुरी निवास निजबोधके विकाससे है। निश्चय, निश्चल, अमल, अतुल, अखण्डित, अमिततेज, अनन्तगुणरत्न मण्डित, ब्रह्माण्डको जानकर, ब्रह्मपदको पूर्ण परमचैतन्यज्योतिस्वरूप, अरूप, अनूप त्रैलोक्यभूप परमात्मरूप पदको प्राप्त कर, पावन होकर रहे, वह अनुभवकी महिमा है।[२]

---

१ पाठान्तर—"परिणामकरि प्रकाशै"

२. दरसन ज्ञान शुद्ध चारितकौ एक पद,
मेरौ है सरूप चिद चेतना अनन्त है,
अचल अखण्ड ज्ञानज्योति है उद्योतजामैं,
परम विशुद्ध सब भावमें महन्त है।

यथार्थ ज्ञान, परमार्थनिधान, निजकल्याण, शिवस्थानरूप भगवान्, अमलान, सुखवान, निर्वाणनिधि, निरुपाधि, निजसमाधिको मानें, आराधें, अलख, अज, आनन्द, महागुणवृन्दधारी, अविकारी, सर्वदु:खहारी, बाधारहित, अहित, सुरस, रसरहित, निरंशी, कर्मका विध्वंसी, भव्यका आधार, भवपार करनार, जगतका सार, दुर्निवार दु:खको चूरता (है), भवके तापरूप पुण्य-पापको मिटाकर स्वपदको पूरता (है)। आत्मपदको बतलाकर चिदानन्दको दरशा देता (है) सदा सुखकन्द, निरफन्द बनलाता (है), अविनाशी पदको प्राप्त करता (है), लोकालोकको झलकाता (है), पुन भवमें नहीं आता। (जिसके) सर्व वेद गुण गाये उसे कहाँ तक दरशाये ? वचनगोचर न आए (ऐसा) वह परमतत्त्व है, अतत्त्वमें अतीत जिसमें विपरीत करणी नहीं है। भवदु:खकी भरणी, हितहरिणी अनुसरणी (हितके नाशको अनुसरनेवाली), (ऐसी करणी) अनादिसे ही मोहराजाने बनायी है। जगतके जीवोंको भायी (पसन्द आयी) है, दु:खदायक होने पर भी सुहायी (अच्छी लगी) है, अथवा जिसमें अज्ञानकी अधिकाईरूप बहुत काट (मैल) लगा है, परन्तु ज्ञानरीतिको अन्तरमें लाकर विपरीत करणीको भेदकर साधकता साधकर महान होता है, निज-ध्यानरूप आनन्द सुधाका पान होता है। मोक्षपदका निदानी (होकर) उसी समयमें स्वरसवशी होता है।

इन्द्रिय चोरको दबाकर, कायाकी मायाको छोड़कर परमेश्वर स्वरूप पदको (अपने) घट घटमें व्यापक निहारा। अनुपम चिद्रूपको आना

आनन्दको धाम अभिराम आको आठौं जाम,
अनुभवे मोक्ष कहै देव भगवन्त है;
शिवपद पायवेको और भांति सिद्धिनाहि,
यातैं अनुभवी निज बोध लिवाकन्त है। ४५।

—ज्ञानदर्पण।

भ्रमभावको मिटाया, निजआत्मतत्त्व प्राप्त किया। अचल, अभेद आदत वाला (स्वभाववाला) देव देखा। भवसे उदासी होकर शाश्वत पदका निवासी (होकर) सुखराशि प्राप्त की। बाहर नही बहता (नही राचता, नही खोजता) निजभावको ही चाहता है। स्वपदका निवास स्वपदमे है। बहिरग संगमें ढूंढ़-ढूंढकर व्याकुल हुआ। जैसे कस्तूरी मृग सुगधको ढूँढता है (परन्तु) कही (वह सुगन्ध) दूसरी जगहमे नही पाता, उसीप्रकार अपना पद परमें नही पाता, मोहके विकारसे अपना पद सूझता नही है। सत पुरुषके प्रतापसे अनन्तगुणमय चिदानन्द (निज) परमात्मा तुरन्त प्राप्त करता है। जहाँ तक परपदमे अपनत्व है तब तक सरागी होकर व्याकुल रहता है। ज्ञानदृष्टिमे दर्शन-ज्ञान-चारित्रको एक पदस्वरूप अवलोकन करनेमे ही परमान्यता तो तुरन्त नष्ट होती है। राग विकार मिटने पर ही वीतरागपद प्राप्त करता है, तब अनाकुल होता हुआ, अनन्त सुखका रसास्वादी होकर अपनेको अमर करता है। जैसे कोई राजा शराब पीकर निद्य स्थानमे रति मानता है, उसीप्रकार चिदानन्द देहमे रति मान रहा है। मद उतरने पर राजपदका ज्ञान होकर राज-निधान विलसता है, (वैसे ही) स्वपदका ज्ञान होने पर सच्चिदानन्द सम्पदा विलसती है।

कोई प्रश्न करे कि ज्ञान तो जानपनेरूप है, (तथापि) अपनेको क्यों नही जानता? उसका समाधान —

जानपना अनादिसे परमे व्याप्त होकर परका ही हो रहा है। अब ऐसा विचार करनेसे शुद्ध होता है कि यह परका जानपना भी ज्ञानके बिना नही होता, ज्ञान आत्माके बिना नही होता, इसलिए परपदको जाननेवाला मेरा पद है। मेरा ज्ञान (वही) मैं हूँ, पर विकार पर हैं। जहाँ-जहाँ जानपना वहाँ-वहाँ 'मैं' ऐसा दृढ़भाव

सो सम्यक्त्व है, वह सुगम है, (तथापि) विषम मान रहा है। मोह-मदको रोककर ज्ञानामृतका पान करके, ब्रह्मपदका स्मरण करके, भवखेदको टालकर, निजसे भेदको पाकर, अभेद निजपदको पहिचान-कर, पर ऐसी वाणीको त्यागकर, चिदानन्दको जानकर, मोहमान्यताका नाश करके गुणग्राम—सुखधामरूप, अभिरामरूप वही (मेरा) स्वरूप है। वही भाव मोक्षको, उपाय-उपेयको साधता (है), शुद्ध आत्माको आराधता (है)। इसीप्रकार निर्ग्रन्थ पुरुष शिवपथको बहुत साध-साधकर, समाधिको प्राप्त करके परमपदको पहुँचने (हैं)। अपना चेतनप्रकाश मोहविकारको पाकर मलिन हुआ है, भेदज्ञान जड-चेतनको भिन्न करता है। उसे अतरमे धारण कर-करके निजज्ञानका अभ्यास बारम्बार करके, सार अविकार अपना अखण्ड रूप जानकर, (उसे) अतरमें अनुभवमे लाकर महामोह हठका नाश करके, जो स्वरूपरस अपने स्वभावमें है उस स्वभावको निजउपयोगमे योग्य स्थानरूप करते है, (यथास्थानरूप करते है, स्थिर करते है)। स्वरूपकी उपयोगशक्ति कर्ममे गुप्त हुई तो क्या (उस) शक्तिका अभाव माने ?

जैसे कि—किसीका पुत्र घरमें है। बजारमें किसीने पूछा कि 'आपके पुत्र' है ? को कहता है कि 'मेरे पुत्र है'। (बजारमे साथ न होने पर भी) अभाव नही कहता। व्यवहारमे भी यह रीति है कि विद्यमानको अविद्यमान नही करता। (परन्तु हे) चिदानन्द ! तेरा तो आश्चर्य होना है कि दर्शन–ज्ञान शक्ति विद्यमान होने पर भी (तूने) अविद्यमान कर रखी है। जिसप्रकार लोटनजड़ीको (जटामासी, जिसे बिल्ली लोटन कहते है) देखकर बिल्ली लोटती है, वैसे ही मोहसे ससार–भ्रमण है। वहाँसे इधर जरा भी स्वरूपमे आजाए तो त्रिलोकका राज्य प्राप्त कर ले। वह तो दुर्लभ नही है। जिसप्रकार मनुष्य पशुका स्वाग धारण करे तो (कही) पशु नही

होता (किन्तु) पुरुष ही रहता है; उसीप्रकार आत्मा चौरासीके स्वांग धारण करे तथापि वह चिदानन्द ही है।[1] चिदानन्दपना दुर्लभ नही है। जैसे कोई काष्ठकी पुतलीको सच्ची स्त्री मानकर उसे बुलाये, प्रेम करे, उसकी सेवा करे, फिर जाने कि (यह तो) काष्टकी है तब पछताता है, वैसे ही (यह आत्मा) जडकी सेवा करता है, अज्ञानी होता हुआ जडमें सुखकी कल्पना करता है। ज्ञानी होने पर झूठी मान्यता छोड देता है।

जिसप्रकार मृग मरीचिकामे जल मानता है, उसीप्रकार यह (जीव) परमें अपनत्व मानता है। इसलिए सच्चे ज्ञानसे वस्तुको जाने तभी भ्रम मिटता है। श्रीगुरु बारम्बार सारभूत ऐसा सच्चा उपदेश कहते हैं। स्वय भी जानता है। (तथापि) अविद्याका ऐसा आवरण है कि उसके द्वारा झूठको सच मान रहा है। तीन जगहसे टेढी ऐसी रस्सीमे सर्प त्रिकाल नही है, वैसे ही ब्रह्ममे अविद्या नही है। सम्पूर्ण समुद्रके जलसे धोने पर भी जो देह[2] अपावन है उसे पावन मान रहा है, ऐसी ढिठाई पकडी है। बलजबरीसे ठीकरीको

---

१. जैसे नर कोउ वेष पशुके अनेक धरै,
पशु नहीं होय रहै यथावत् नर है
तैसें जीव चार गति स्वाग धरै चिरहीकौ,
तजै नाहीं एक निज चेतना कौ भर है।
ऐसी परतीति किये पाइये परमपद,
होइ चिदानंद शिवरमणीकौ वर है,
जामतौ सुथिर जहै सुखकौ विलास करै;
जामै प्रतिभासै जे ते भाव चराचर है।४०। —ज्ञानदर्पण

२ देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई।
सागरके जलतै शुचि कीजे, तौ भी शुद्ध न होई॥ —भूधरदासजी

रुपयेमे चलाये तो नही चलेगी; अपनी भूल नही छोडे तो दुनियामे अपनी हँसी आप करायेगा। देखो, अनन्त ज्ञानका धनी (स्ववस्तुको) भूलकर दु ख पाता है। हँसी होने पर मनुष्य लज्जित होता है, फिरसे हँसीका काम नहीं करता। इस जीवको अनादिकालमे जगतमे हँसी हो रही है फिर भी लज्जित नहीं होता। फिर-फिर उसी झूठी रीतिको ग्रहण करता है।

जिसकी बात करनेमे भी अनुपम आनन्द हो ऐसा अपना पद है, उसे तो ग्रहण नही करता (और) पर वस्तुको ओर देखते हो—चोरासीका बन्दीखाना है—उसे रुचि पूर्वक सेवन करता है। ऐसा विपरीतरूप हठ रीतिको अनुपम मान-मानकर हर्ष प्राप्त करता है। जैसे सर्पको हार जानकर हाथ डाला तो दु ख होगा ही होगा, वैसे ही रुचि-पूर्वक परका सेवन करनेसे ससार दु ख होगा ही होगा।

जैसे कि—एक नजरबन्दीवाला पुरुष एक नगरमे एक राजाके पास आकर रहा। कुछेक दिन बाद राजा मरणको प्राप्त हुआ। तब उस पुरुषने राजाको मरा नहीं बतलाया। उसने राजाको तो खूब गहरे गाडकर ऊपरसे मिट्टी दाबकर (दूसरोको) खबर न पडे ऐसी जगह करके, नजरबन्दी द्वारा काष्ठके राजाको दरबारमे बिठाया। नजरबन्दीके कारण सबको वह सच्चा भासित होता था। जब कोई राजासे पूछे तब वह (नजर बाँधनेवाला) पुरुष जवाब देता था, लोग समझते थे कि राजा बोलता है। ऐसा चरित्र (उसने) दृष्टि-बधसे किया। वहाँ एक पुरुष जगलकी बूटी सिरपर डालकर आया, उसी बूटीके बलसे उसकी दृष्टि बँधी नहीं। तब वह पुरुष लोगोसे कहने लगा कि अरे! कुबुद्धिजनो! काष्ठका (राजा) प्रत्यक्ष देखनेमे आता है। तुम इसे सच्चा राजा जानकर सेवन करते हो, धिक्कार है तुम्हारी ऐसी समझको! उसी प्रकार जो यह सर्व ससारी है उनकी दृष्टि मोहसे बँधी है, परको अपने रूप मानकर सेवन करते हैं। परमें चेतनाका

अश भी नही है। जिसे ज्ञान हुआ है वह ऐसा जानता है कि—यह कुबुद्धि ससारीजन जडमे अपनत्व मानते हैं, दु.ख सहते है। धिक्कार है उनकी समझको। दु खदायक झूठे हठको सुखदायक जानकर सेवन करते है।

जैसे कि–किसीका जन्म हुआ; जन्मसे ही आँख पर चमडीका लपेटा चला आया; भीतर आँखका प्रकाश ज्योंका त्यों है। बाह्य चर्मके आवरणसे अपना[1] शरीर अपनेको नही दिखता। जब कोई वैद्य मिला तो उसने कहा कि—इसमे ज्योतिरूप प्रकाश है—आँख अच्छी है, उसने यत्न करके चमडीका लपेटा दूर किया तब अपना शरीर स्वय ही देखा, तथा दूसरा भी वह देखने लगा। इस प्रकार ज्ञान–दर्शनके नयन अनादि कालसे आवृत्त होकर चले आ रहे हैं इसलिए अपने स्वरूपको नही देखा, तब श्री गुरुरूपी चिकित्सक (नेत्र-वैद्य) मिले तब ज्ञानावरणको दूर करनेका उपाय बतलाते ही, उसके श्रद्धानसे (आवरण) दूर हुआ, तब स्वय अपना अखण्ड ज्योतिस्वरूप पद देखा और अनन्त सुखी हुआ।

रस्सीमें सर्प नही है, सीपमे चादी नहीं है, मरीचिकामें जल नही है, कांचके मन्दिरमे दूसरा श्वान नही है, कस्तूरी मृगके बाहर सुगध नही है, नलिनीमे तोतेको किसीने पकडा नही है, (घडेमे) बन्दरकी मुट्ठी किसीने पकडी नही है, कुएँमे दूसरा सिह नही है,— इस प्रकार दूसरा कोई नही है, अपनी ही झूठी भूल है इससे स्वय (ही) दु ख पाता है। (अपनेको) दूसरा (पर) मान-मानकर दु:ख पाता है। सच (सत्य) जाननेसे सदा सुखी होता है। यह आत्मा सुखके हेतु अनेक उपाय करता है। देश–देश फिरता है, लक्ष्मी कमा-कर सुख भोगता है, अथवा परलोक सुखके हेतु अनेक परीषह सहता

---

१ पाठान्तर 'आपकी शरीर आपको' के बदले 'आपको' ऐसा पाठ है।

है, सुखका[1] निधान निजस्वरूपको नही जानता। जाने तो तुरत सुखी हो।

जैसे—सभी पुरुषोंकी गठरीमें माणिक[2] हैं, (तथापि) वे सब भ्रमसे भूलकर दु:खी हो रहे हैं। यदि गठरी खोलकर देखे तो सुखी हो। अंधा यदि कुएँमें गिरे तो आश्चर्य नही होता, सूझता गिरे तो आश्चर्य होगा। उसी प्रकार आत्मा ज्ञाताद्रष्टा है तथापि ससार-कूपमे गिरता है, यह बडा आश्चर्य है। मोहरूपी ठगने उसके सिरपर भूरकी डाल दी है उससे परघरको ही अपना मानकर निजघर भूला है। ज्ञानमत्रसे मोह ठगीको उतारे तब निजघरको प्राप्त करे। श्रीगुरु बारबार निजघर प्राप्त करनेका उपाय बतलाते है (कि) अपने अखण्डित उपयोग निधानको लेकर अविनाशी राज्य कर। अपनी हरामजादगीसे अपना राजपद भूलकर कौडा-कौडीका भिखारी बनकर कगल हुआ है। तेरा निधान (तेरे) पास ही था। तूने नही संभाला इससे (तू) दु खी हुआ।

जैसे कि—चाँपा नामका ग्वाला धतूरा पोकर उन्मत्त हुआ। (मानने लगा कि) 'मैं चाँपा' नही' चाँपाके घरके पिछवाडे खडे होकर उसने आवाज दी कि 'चाँपा घर है' ..? तब उसकी स्त्रीने कहा —'तू कौन है'? तब होश आया कि मैं चाँपा हूँ। वैसे ही—श्रीगुरुने आत्मा (निजस्वरूप) बतलाया है। प्राप्त करे वह सुखी होगा। कहाँ तक कहे? यह महिमा निधान अम्लान अनुपम पद स्वय (ही) बना है, सहज सुखकन्द है, अलख अखण्डित है, अमित तेजधारी है, अनादिसे दु ख द्वन्द्वमे अपनापन मानकर अति आनन्द मान रहा है।

---

१ मूल प्रतमें 'सुखका' शब्द नहीं है।

१ लाल बंध्यो गठडी विष, लाल बिना दु ख थाय।
खोल गाठडी जो लखे लाल तुरत मिल जाय॥

वह दुखकी मूल भूल तभी मिटे कि जब श्री गुरुवचन सुधारस पिये। चेत (जाग्रत स्वरूपका भान) होकर परकी ओरका अवलोकन मिटे। स्वरूप स्वपदको देखते ही तीन लोकके नाथ (ऐसे) निजपदको जाने[1]। (ऐसा) विख्यात वेद (शास्त्र) बतलाते है।

नट स्वाग धरकर नाचता है। स्वाग धारण न करे तो पररूप नाचना मिटे। ममत्वसे पररूप हो-होकर (यह जीव) चौरासीके स्वाग धरकर नाचता है। ममत्वको मिटाकर, सहज पदको भेटकर स्थिर रहे तो नाचना न हो। चचलता मिटने पर चिदानन्द उद्धरता है (मुक्त होता है)। ज्ञानदृष्टि खुलती है। स्वरूपमें बराबर (यथार्थ रीतिसे सम्यक् प्रकारसे) सुस्थिर होने पर गति भ्रमण मिटता है। इसलिए जो स्वरूपमे सदा स्थिर रहे उसे धन्य है।

अपने अवलोकनमे अखण्ड रसधारा बरसती है, ऐसा जानकर, निजको जानकर, पर मान्यताको मिटाये। यह मैं सुखनिधान ज्योतिस्वरूप, परम प्रकाशरूप, अनुपमपदरूप स्वरूप हूं। इस आकाशवत अविकार पदमे पर सयोगसे चिद्विकार हुआ है।

प्रश्न :—यहाँ तो परके निवासका अवकाश नही था। (तो वह) अनादिसे किस प्रकार किया ? वहाँ कहते है:—

समाधान :—जैसे स्वर्णकी खानमें स्वर्ण चिरकालसे ही गुप्त है, उसी प्रकार आत्मा कर्ममें अनादिकालसे गुप्त है। परयोगसे अनादि कालसे अशुद्ध उपयोगरूप अशुद्धता लगी है, वह देखो ! कैसे लगी है सो कहते है :—

---

१. मेरा सरूप अनूप विराजत, मोहिमे और न भासत आना,
ज्ञानकला निधि चेतनमूरति, एक अखण्ड महासुख थाना।
पूरन आप प्रताप लियें जहाँ योग नहीं परके सब नाना:
आप लखें अनुभव भयौ, अति देव निरंजनको उर आना। ४३। —ज्ञानदर्पण

क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय, मन, वचन, देह, गति, कर्म, नोकर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, अन्य जीव आदि जितनी परवस्तुएं है उन सबको अपनी करके (अपनेरूप मानकर) जानता है। वे मैं ही हूँ, मैं उनका कर्त्ता हूँ, वे मेरे कर्म है। 'मैं हूँ तो वे है, वे हैं तो मैं हूँ,' इसप्रकार परवस्तुको अपनेरूप जानता है (और) अपनेको पर जानता है। इससे लोकालोकको जाननेकी सर्व शक्ति अज्ञानभावरूप परिणमी है। इसप्रकार जीवका ज्ञानगुण अज्ञान विकार रूप हुआ। उसीप्रकार जीवका दर्शनगुण था, (वह) जितने परवस्तुके भेद हैं उन सबको अपनेरूप देखता है, वे (सर्व) मै हूँ, अपनेको परमें देखता है तथा परको अपनेमे देखता है। (इसप्रकार) लोकालोक देखनेकी जितनी शक्ति थी उतनी सब शक्ति अदर्शनरूप हुई। इस प्रकार जीवका दर्शनगुण विकाररूप परिणमित हुआ।

तथा जीवका सम्यक्त्वगुण था वह जीवके भेदमे अजीवका आस्तिक्य करता है। चेतनको अचेतन, अचेतनको चेतन, विभावको स्वभाव, स्वभावको विभाव, द्रव्यको अद्रव्य, गुणको अवगुण, ज्ञानको ज्ञेय, ज्ञेयको ज्ञान, स्वको पर, परको स्व (आपरूप) इसीप्रकार अन्य सर्व विपरीतता बराबर होनेकी प्रतीति—आस्तिक्यभाव करता है। इसप्रकार जीवका सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूप परिणमित हुआ। और जीवका स्वआचरणगुण था, वह जितनी कुछ परवस्तुएँ है उन सब परको स्व-आचरणरूप करता रहता है। परमे बना रहता है, परको ही ग्रहण किया करता है; (इसप्रकार) अपनी चारित्रगुणकी सर्व शक्ति परमें लग रही है। इसप्रकार जीवका चारित्र गुण भी विकार-रूप परिणमता ।

दूसरे, इस जीवका सर्वस्वरूप परिणमनेके बलरूप सर्व वीर्यगुण था, वह निर्बलरूप होकर परिणमा, स्वरूप-परिणमनकी शक्ति अवरुद्ध हो गई, (अर्थात्) निर्बल होकर परिणमा। इसप्रकार जीवका वीर्य-

गुण विकाररूप परिणमा। और इस जीवका आत्मस्वरूप रस जो परमानन्द भोगगुण था वह पर पुद्गलके कर्मपनेरूप व्यक्त साता-असाता, पुण्य-पापरूप उदय, परपरिणामके अनेक प्रकारके विकार -चिद्विकार परिणामोंके ही रसके भोगता रहे, रसको लेता रहे, उस परमानन्द गुणकी सर्व शक्ति परपरिणामका ही स्वाद आस्वादती रहे। (चाखती रहती है)। वह परस्वाद परम दु:खरूप (है)। इसप्रकार जीवका परमानन्द गुण दु:ख-विकाररूप परिणमित हुआ। इसप्रकार इस जीवके अन्य गुण जैसे-जैसे विकारी होते हैं वैसे-वैसे ग्रन्थान्तरसे जान लेना।

इस जीवके सर्व गुणोंके विकारको 'चिद्विकार' ऐसा नाम सक्षेपसे कहना। एक-एक गुणकी अनन्ती शक्ति कही है। सत्ताकी शक्ति है (वह) अनन्त गुणसे विस्तरित हुई है। सर्व गुणोंका आस्तिक्य सत्तासे हुआ है। सत्ताने सर्व गुणोंका शाश्वत रखा है। (यदि) अनन्त चेतनाका स्वरूप असत्ता होता तो, चित्शक्तिरूप चेतनाकी अविनाशी महिमा नही रहती। सत् चिदानन्दके बिना निष्फल होनेसे वे किस कामका? इससे सत् चिदानन्दरूप द्वारा आत्मा प्रधान है। अरूपी आत्मप्रदेशमे सर्वदर्शनी, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्त शक्तिका प्रकाश है, वह अविकारी उपयोगका धारी, कर्मत्व द्वारा आवृत होकर सकोच-विस्तारसे शरीराकार हुआ।

प्रश्न :—आकाशवत् आत्मा किसप्रकार सकोच-विस्तार पाता है?

समाधान :—(अकेला) पुद्गल सकुचन-विस्तरण करे तो काष्ठ पाषाण (भी) घटते-बढते। (परन्तु) वे चेतनाके बिना नही बढते। (अकेला) चेतन ही बढ़े-घटे तो सिद्धके प्रदेशका विस्तार हो या घट जाय; परन्तु ऐसा भी नहीं है। जड चेतन दोनों मिलनेसे संकोच-विस्तार होता है। प्रदेशमें सर्व गुण कहे हैं, तथापि संसार-दशासे मोक्षमार्गका चढ़ना नहीं होता। वहाँ (तो) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको

मोक्षमार्ग[1] कहा है। उनकी जितनी विशुद्धि होती जाय उतना उतना मोक्षमार्ग हुआ।

निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकारसे है—सविकल्प तथा निर्विकल्प। सविकल्पमें 'अहं ब्रह्म अस्मि' मैं ब्रह्म हूँ—ऐसा भाव आता है। (और) निर्विकल्प वीतराग-स्वसंवेदन (को) समाधि कहते हैं। लोकालोकको जाननेकी शक्ति ज्ञानकी है, उसमें जितना स्वसंवेदन हुआ (उतना) स्वज्ञानकी विशुद्धताका अंश होनेसे हुआ। उस ज्ञानने सर्वज्ञ शक्तिमें अनुभव किया। जितना ज्ञान शुद्ध हुआ, उतना अनुभवमें सर्व ज्ञानको प्रतीतिभावको वेदनेसे ऐसा (शुद्ध) हुआ। सर्व ज्ञानके प्रतीतिभावमें आनन्द बढ़ा, ज्ञान अधिक निर्मल होता गया। ज्ञानकी विशुद्धताको ज्ञानके बलका प्रतीतिभाव कारण है। (यहाँ) ज्ञान परोक्ष है। परपरिणतिके आवरणका बल होने पर भी उस स्वसंवेदनमें स्वजातीय सुख हुआ। ज्ञान स्वस्वरूपका हुआ। "एकदेश स्वसंवेदन सर्व स्वसंवेदनका अंग है"। ज्ञानवेदनामें वेदन हो (वह) साक्षात् मोक्षमार्ग है। उस स्वसंवेदनको ज्ञानी ही जानते हैं। स्वरूपसे परिणामोंका बाहर जाना ही संसार है, स्वरूपाचरणरूप परिणाम ही साधक अवस्थामें मोक्षमार्ग, और सिद्ध अवस्थामें मोक्षरूप है। जितने-जितने अंशमें ज्ञानबलसे आवरणका अभाव हुआ उतने-उतने अंशमें मोक्ष नाम पाया। स्वरूपकी वार्ता प्रीतिपूर्वक सुने तो (उसकी) भावी मुक्ति कही है[2]। जिसका अनुभव करनेसे अनुपम सुख हो, उसकी महिमा कौन कह सकता है।

---

१. "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" —तत्त्वार्थसूत्र १–१

२. "तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाण भाजनं॥" —पद्मनन्दि पंचविंशतिका

अर्थ :—जिस जीवने प्रीतियुक्त प्रसन्न चित्तसे उस आत्मतत्त्वकी बात भी सुनी, वह जीव विशेषकर भव्य है और अल्प समयमें निर्वाणका पात्र है।

"जितना स्वरूपका निश्चय यथार्थ भाए (चिंतवन करे) उतना स्वसंवेदन अविग (अचल) रहता है; (और) जितना स्वरूपाचरण हो, उतना स्वसंवेदन बराबर होता है। एक होनेपर तीनोंकी सिद्धि है।"

गुप्त शुद्ध शक्तिकी सिद्धिके प्रमाणमें (परिणति) प्रवेश करती है। परिणति ज्यों-ज्यों शुद्धताकी प्रतीतिमें स्थिर हो त्यों-त्यों मोक्षमार्गकी शुद्धि होती है। जैसे-कोई अधिक कोस चलेगा वैसे ही नगर समीप आयगा; उसीप्रकार (ज्यों-ज्यों) शुद्धस्वरूपकी प्रतीतिमें परिणति अवगाढ़, गाढ़, दृढ हो (त्यो-त्यों) मोक्षनगर निकट आता है। स्वय अपनी परिणतिका खेल करके भवसिन्धुसे पार होता है। स्वय विभाव परिणतिसे ससारको विषम बना रखा है। संसार-मोक्षकी करनेवाली परिणति है, (अर्थात्) निजपरिणति मोक्ष, पर-परिणति ससार है। सत्सगसे—अनुभवी जीवके निमित्तसे—यह निज-परिणति स्वरूपकी होने पर विषम मोह मिटनेसे परमानन्दको भेटती है (परमानन्दकी प्राप्ति होती है)। स्वरूप प्राप्त करनेका मार्ग सन्तोंने सहला[1] कर दिया है।

चौरासी लाख योनिरूप सरायमें सदा फिरनेवालेने कभी कहीं भी स्थिर रूप निवास नहीं किया। जब तक (यह) परमज्योति अपने शिवघरमें न पहुँचे तब तक कार्य[2] भी नहीं सरेगा। जपी, तपी, ब्रह्मचारी, यति आदि अनेक वेश धारण किये उससे क्या हुआ? इसलिए (इसीसे, अब तो) निज अमृतका पान करनेसे अनादिका भ्रम, खेद (मिटे) और अजर-अमर हुआ जा सके (ऐसा) तत्त्वसुधा सेवनका मार्ग क्या? सो कहा जाता है :—

---

१ सुगम, सरल, सुखदायक, सुन्दर, सुहावना।

२. पाठान्तर—'एक कार्य'।

तत्त्वका कौतूहली होकर, सकल अविद्यासे छूटकर अपने चिदानन्द स्वरूपको अवलोके–अनुभव करे। निजानन्दकी केलिरूप कला द्वारा स्वपदको देखे (जिससे) अनात्माका संग फिर न रहे। अनादि मोहके वश होकर अहितमें निजहित मान रहा है, उस मोहका भेदज्ञानसे नाश कर। ज्ञानचेतनाका अनुभव कर (क्योंकि) अनादि अखण्डित ब्रह्मपदका विलास तेरे ज्ञानकटाक्षमें है।

जब अज्ञानपटल दूर हो, सद्गुरुवचनरूपी अंजनसे पटल दूर होने पर ज्ञाननेत्र प्रकाशित हो, तब लोकालोक, दृष्टिगोचर होता है। ऐसे ज्ञानकी महिमा अपार (है)। ज्ञानमयमूर्तिकी सूरतका सेवन कर-करके अनेक मुनि पार हुए। अपने सहजका (स्वभावका) खेल है। पर-परिचयमे विषम है, सहज बोधकला द्वारा सुगम है; कष्ट क्लेशसे दूर है। किसलिए? कि अफीम खानेसे तुरन्त विषकी लहर चढती है; अमृतके सेवनसे तुरन्त तृप्ति होकर सुख प्राप्त करता है, वैसे ही कर्मक्लेशमे शातपद नही है। अनन्त सुख निधानकी स्वरूपभावना करते ही अविनाशी रस उत्पन्न हो उस रसका सन्त सेवन करते आए हैं, उसका तू भी सेवन कर। श्रेयपदरूप अनुपम ज्योतिस्वरूप पद अपना ही है, अपने परमेश्वर पदका दूर अवलोकन न कर, अपनेको ही प्रभु मान। जिसका स्मरण ठीक करनेसे ज्ञान-ज्योतिका उदय होकर मोहरूपी अंधकार विलयको प्राप्त होता है, चित्तमे आनन्द सहित कृतकृत्यता प्रकट होती है, उसका वेगसे (शीघ्र) अवलोकन कर, अन्य (परका) ध्यान रोककर विचारपूर्वक स्मरण कर, तेरा ब्रह्मविलास तुझमें है, उससे (परमात्मपदसे) (अन्य) क्या अधिक है कि उसे छोडकर तू परको ध्याता है? चार वेदोंका भेद पाकर स्वरूप सुखरूप स्वपदको ग्रहण कर। तेरी (स्वरूप) भावनामें अविनाशी रसका चुआ चूता है; उसकी भावना करके भ्रमभावको मिटा, तेरी भावनाने झूठमूठ ही भव बना रखे हैं, ऐसा निश्चकर्म स्वभाव कल्लोलके प्रकट होने पर ही मिटता है।

देख, तू चेतन है (और) जड़ अज्ञान (अचेतन) है। उस अज्ञानमें (अचेतनमें) अपनेको मानकर अशुद्ध हुआ है। अज्ञान (अचेतन) कहीं तेरे पीछे नहीं पड़ा है। तू अपने पदसे (हटकर) उसकी ओर मत आ। जड़ कहीं तेरा पल्ला नहीं पकड़ता। तू व्यर्थ ही परायी वस्तुको अपनी मान-मानकर झूठमूठ हर्ष मानता है। मुझे भोगमें सुख हुआ, मैं सुखी हूं—ऐसी मिथ्या भ्रमरूप कल्पना करके आनंदित होता है। (उसमें) किंचित् भी सावधानीका अंश नहीं है। यह एक आश्चर्य है कि तू तीनलोकका नाथ होकर भी अपने पूज्यपदको भूलकर, नीचपदमें अपनेको मानकर विकल होकर व्याकुलरूप हुआ भटकता है।

जैसे—कोई एक इन्द्रजालके नगरमें रहता है। वहाँ वह इन्द्र-जालीके वश हो इन्द्रजालके हाथी, घोडे, मनुष्य, सेवक, स्त्री सब हैं; उनमेसे वह किसीको हुक्म देता है, (वहाँ), सेवक आकर (उसे) सलाम करता है, स्त्री नृत्य करती है, (स्वय) हाथी पर चढ़ता है, घोड़ा दौडाता है। इन्द्रजालमें इन खेलोको सच्चा मानता है, विकलता धारण करके कभी किसीके वियोगसे रोता है, (तथा) दु:खी होकर छाती कूटता है। कभी किसीका लाभ मानकर प्रसन्न होता है, कभी श्रृंगार सजता है, कभी सेना देखता है, कभी आनन्द मनाता है। इस प्रकार झूठे खेलको सच्चा मान रहा है। संसारमें सब कहते हैं कि इन्द्रजाल झूठा है, उसमें रंचमात्र सत्य नहीं है। उसी प्रकार देव, नर, नारक, तिर्यचके शरीर जड़ हैं, (उनमे) चेतनका अंश नहीं है, भ्रमवश (उसका) श्रृंगार करता है, खान-पान, सुगंधित तेल लगाना आदिसे (उसका) अनेक प्रकार जतन करता है। झूठमें ही प्रमोद मानकर हर्षित होता है। मरेके साथ जिन्दा सगाई करे तो कार्य कैसे सुधरे ?

जिसप्रकार[1] श्वान हड्डीको चबाता है, (और उससे) उसके

---

1. जैसें कोउ कूकर छुधित सूके हाड चावै,
हाडनिकी कोर चहुंओर चुभै मुखमें,

गाल, तालु, तथा मसूडोंसे जो खून निकलता है उसे स्वादिष्ट मानता है, उसीप्रकार मूढ स्वयं दु:खमें सुखकी कल्पना करता है। पर फन्दमें सुखकन्द सुख मानता है। अग्निकी ज्वाला शरीरमें लगनेपर कहता है कि मुझमें ज्योतिका प्रवेश होता है। यदि कोई अग्निकी लपटको बुझाए तो उसके साथ लडता है। इस प्रकार परमें दु:ख संयोग है, परको बुझाए उसे शत्रु जैसी दृष्टिसे देखता है, क्रोध करता है। उस पर-योगमें भोग मानकर (यह जीव) भूला है, स्वरसकी भावनाको याद नहीं करता। चौरासीमें परवस्तुको स्व (आपरूप) माननेसे (यह जीव) चिर कालका चोर ही बना है। जन्मादि दु:ख-दण्ड प्राप्त करता है, तथापि परवस्तुकी चोरी नही छूटती। देखो! देखो! तीन लोकका नाथ भूलकर नीच ऐसे परके आधीन हुआ। अपनी भूलसे अपनी निधिको न पहिचानकर भिखारी बनकर फिरता है। निधि चेतना है, वह स्वय (ही) है, दूर नही है, देखना दुर्लभ है; देखे तो सुलभ है।

किसीने पूछा—'तू कौन है'? उसने कहा—'मैं मुरदा (मरा हुआ) हूँ' (मुरदा है) तो बोलता कौन है? (उत्तरमें) कहता है कि—मैं नही जानता। तो मैं मुरदा हूं ऐसा किसने जाना? तब याद किया कि मैं जिन्दा हूँ। उसी प्रकार यह (जीव) मानता है कि मैं शरीर हूँ। (शरीर है) तो इस शरीरमें (अपनत्वकी) जिसने मान्यताकी

गालि, तालु, रसना, मसूढनिको मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुख में;
तैसें मूढ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामैं चित्त सानै हित मानैं खेद दु:ख मैं;
देखै परतच्छ बलहानि मल-मूत खानि,
गहै न गिलानी पगि रहै रागरुख मैं ॥ ३० ॥

— नाटक समयसार बंध द्वार

वह कौन है ? तो कहता है कि मैं नहीं जानता। (तो मैं नहीं जानता) ऐसा बकवास किसने किया ? (इसप्रकार) यह अपनेको खोजकर, देखने-जानने और परखनेमे स्वरूपकी संभाल करे तब सुखी होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर उन्मत्त होकर पुरुषाकार पाषाण-स्तम्भको देखकर सच्चा जानकर उसके साथ लड़ा। वह ऊपर और आप नीचे स्वय ही हुआ। उससे कहता है कि—'मैं हारा'। इसी प्रकार परको स्व (आपरूप) मानकर स्वयं मान्यतासे दुःखी हुआ। दुःखदाता दूसरा कोई नही है; तेरी भावनाने भव बनाए हैं। अनुत्पन्नको उत्पन्न किया है। (उत्पन्न नहीं था उसे उत्पन्न किया है)। अचेतनको चलाया, मरे हुएका जतन अनादिसे करता है। मिथ्या मान्यतामें (अचेतनको) अपने जैसा (चेतन जैसा) तू करता है, (परन्तु) कही तेरा किया हुआ जड चेतन नहीं हो सकता। तू ही ऐसी मिथ्या कल्पनासे दुःख पाता है। (ऐसा करनेमें) तुझे क्या लाभ है ? तू स्वय ही नही विचारता (कि) मेरा फद मैं बनाता हूँ। (मेरे फदको मैं करता हूँ किन्तु) (उससे) कोई सिद्धि नहीं है। विचारके बिना अपनी निधि भूला, अनन्त चतुष्टयरूप अमृत मलिन किया। चेतना! मेरा बनाया हुआ फद ऐसा है, (मानो) आकाश बाँध लिया ! आश्चर्य होता है। किन्तु मात्र अविद्या ही होती तो तू आवृत नहीं हो जाता।

अविद्यारूप जड़की अल्प शक्तिसे तेरी महान शक्तिका घात नहीं हो सकता; किन्तु, तेरी शुद्ध शक्ति भी महान और तेरी अशुद्ध शक्ति भी महान। तेरी चितवनी (दृष्टि) तेरे गले पड़ी; परको देखकर अपनेको भूल गया। अविद्या तेरी ही फैलायी है; तू अविद्यारूप कर्मोंपर अपनापन न दे, तो कहीं जड़का जोर नहीं है। इससे अपरम्पार शक्ति तेरी है, परकी भावना करके भव किए, संसार बढ़ाया। निज भवनासे अविनाशी, अनुपम, अमल, अचल, परमपदरूप, आनन्दघन, अविकारी, सार, सत्, चिन्मय, चेतन, अरूपी एव

अजरामर परमात्माको प्राप्त करता है । तो ऐसी भावना क्यों न करें ? 'यह' अपने स्वरूपमें ही उच्च ऐसा सर्व—सकल पूज्यपद, परमधाम, अभिराम, आनन्द, अनन्त गुण, स्वसंवेदनरस, स्वानुभव, परमेश्वर–ज्योतिस्वरूप, अनुपम, देवाधिदेवपना इत्यादि सर्व—प्राप्त करे । इसलिए अपना पद उपादेय[1] है और अन्य (सर्व) पर पद हेय हैं । एक देश मात्र निजावलोकन ऐसा है कि इन्द्रादिकी सम्पदा विकार रूप भासती है । जिसकी प्राप्तिसे अनन्त सत (उसका) सेवन करके अपने स्वरूपका अनुभव करके भवपार हुए । अतः अपने स्वरूपका सेवन करो ।

श्री सर्वज्ञदेवने सर्व उपदेशका मूल यह बतलाया है कि (यदि) एकबार स्वसवेदनरसका आस्वादी हो तो ऐसे आनदमे मग्न हो कि फिर परकी ओर कदापि दृष्टि न डाले । स्वरूप–समाधि (सो) सन्तोंका चिह्न है, उसके होने पर रागादि विकार नही होते, जिस प्रकार आकाशमें फूल नहीं होते तदनुसार ।

देहाभ्यासका नाश, अनुभव प्रकाश, चैतन्यविलासरूप भावको जाने, जो लक्ष्य-लक्षण लेखनमे नहीं आ सकते, जाननेसे सुख होता है, लिखनेसे स्वादरूप नही होता । आत्मा सहित विश्व व्याख्येय, व्याख्या, वाणीकी रचना, व्याख्यान करने वाला व्यख्याता (है) ।— यह सब बाते (कथन) जो भी है वे मोहके विकारसे मानते हैं । अनादिसे (चली आ रही) आत्माकी आकुलता वह एक विशुद्ध बोधकला द्वारा मिटती है । इसलिए सहज बोधकला का निरन्तर अभ्यास करो । स्वरूपानन्दी होकर भवोदधिको पार करो ।

---

१ एकमेव हि तत्स्वाद्य, विपदामपद पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते, पदान्यन्यानि यत्पुर. ॥ —आचार्य अमृतचन्द्र

जो पद भौपद भय हरे, सो पद सेउ अनूप,
जिहि पद परसत और पद, लगें आपदारूप ॥ १७ ॥ —बनारसीदासजी

नर भव कहीं सदा तो रहता नहीं, साक्षात् मोक्ष-साधनरूप ज्ञानकला इस भवके सिवा अन्य किसी जगह उत्पन्न नहीं होती, इसलिए बारम्बार कहा जाता है कि—निजबोधकलाके बल द्वारा निज स्वरूपमें रहो। निरंतर यही यत्न करो। ऐसा बारम्बार कहलाना तो बालक भी नहीं कराता, तुम (तो) अनन्त ज्ञानके धनी होकर, ऐसी भूल धारण करते हो इससे बड़ा अचरज होता है। सो ऐसी अचरजकी बात नहीं करना चाहिए। हाड़-चामके जड़ शरीरमें स्वपना माननेसे बड़ी हानि है। अपने ज्ञानमें सुखसमुद्रको पाकर अविनाशीपुरीका राजा होता है; अनन्त-चैतन्यशक्तिरूप राजधानीका विलासी होता है। परमें अपनापन मानकर तू इस प्रकार दुःख प्राप्त कर रहा है कि जैसे मुरदेको वस्त्राभूषण पहिना कर माने कि 'मैंने पहिने हैं'। तू जीवंत होने पर भी उनको झूठ ही अपना मान रहा है। इसप्रकार शरीर जड़ है; उसके भोगोंको तू अपने मानकर व्यर्थ ही किसलिए जडकी क्रियाको अपनी मान रहा है? जैसे—साँप काटे किसीको और विष किसी दूसरेको चढ़े तो अचरज मानते हैं। (वैसे ही) जड खाए, पिए, पहिने, स्नान, तैल-मर्दनादि क्रिया करे, (वहाँ) तू कहे कि 'मैंने खाया, मैंने भोग किया, (इसप्रकार) परका स्वामी हुआ। सो परका स्वामी भी ऐसा तो नहीं मानता। जैसे राजा दासोंका स्वामी है। (तथापि) उनके तृप्त होनेसे (पाठान्तर :—नोकर भोजनसे तृप्त होनेसे) राजा ऐसा नहीं कहता कि—'मैं तृप्त हुआ हूँ'। और तू देख, तेरी ऐसी चाल तुझे ही दुःखदायी है।

जो सुन्दर वस्तु हो उसे ऊपरसे (ऊपरसे देखकर, ऊपरी सुन्दरतासे) अंगीकार नहीं करना। देह अशुचि, नव द्वारोंसे स्रवती[1]

---

१. पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी। —पं. दौलतरामजी।

है; देखते ही ग्लानि (उपजती है), बाह्यमें (उसका) रूप दिखता है तो सुन्दर, (परन्तु) भीतर खराबी भरी है। उसके भीतर विष्टा, मूत्रकी खान (है); (शरीर) नष्ट न होता हो तो ऐसा होने पर भी उसे अंगीकार करते। विनाशीक होने पर भी तुम्हें दुःखदायी न हो तो ऐसे (शरीर) के साथ तुम स्नेह करो, (किन्तु) जन्मादि दुःख भरते हो। तुम्हारे साथ यह जन्मादि अनादिसे लगे आ रहे हैं। तुमने महान पुरुषों जैसी रीतिका भाव किया है कि 'जो हमसे लगे हैं उन्हें नहीं छोड़ना'। तुम महंत नहीं कहलाओगे। महंत तो पापको मेटनेसे ही होते हैं। वह तो (शरीर तो) पापका रूप है। इसलिए तुम समझो, अपने धनको अंगीकार करो, पराया धन चला जाता है तुम फिर उसे ग्रहण करते हो, उसके दण्डमें भवदुःख सहते हो, तथापि परको लेते-लेते (तुम) थके नहीं हो। बहुत दुःखी होने पर भी तुम पर—ग्रहण की बानि (आदत) नही छोड़ते। साहूपद तो अपने धनसे पाओगे; इसलिए स्व-परके विवेकी बनकर आत्मधनको ग्रहण करो, परका ममत्व स्वप्नमें भी मत करो। तुम्हारे पास अखण्ड रत्नत्रयादि अनन्त गुणनिधान हैं,(तुम) दरिद्री नहीं हो। जो दरिद्री हो वह ऐसे काम करेगा।

श्रीगुरुने तुम्हारा निधान तुम्हें दरशाया है। अब (उसे) सँभालकर सुखी होओ। जैसे किसी स्त्रीने अपने बिस्तर पर काष्ठकी पुतलीको सिंगारकर सुला दिया। पति आया तब उसने ऐसा जाना कि मेरी स्त्री सो रही है। (उसने) आवाज दी (पुकारा) किन्तु बोली नहीं, तब पंखा झलने आदिसे सारी रात उसकी सेवा–सुश्रुषा की। सवेरा होने पर ज्ञात हुआ कि मैंने व्यर्थ ही सेवा की। उसी-प्रकार शरीरको आपरूप (आत्मा) मानकर सेवन करता है। ज्ञान होने पर ऐसा जानता है कि मैंने अनादिकालसे शरीरमें अपनत्व झूठा ही माना था। हे चिदानन्द! तुम पाँच इन्द्रियरूपी चोरका

पोषण कर रहे हो, और जानते हो कि यह हमें सुख देता है, किन्तु यह अंतरके गुणरत्नको चुरा लेता है (उसकी) तुम्हें खबर नहीं है। अब तुम ज्ञानखड्ग सँभालो, चोरोंको ऐसा रोको कि फिर वह न पकड़ें (चोर न करें)। विषय-कषायको जीतकर निज रीतिकी राहमें आओ और तुम शिवपुरीमें पहुँचकर राज्य करो। तुम राजा; दर्शन-ज्ञान मंत्री—राज्यके स्तंभ, गुण वह बस्ती, अनंत शक्तिरूप राजधानीका विलास करो। अभेद राज राजित तुम्हारा पद है। अपावन 'अस्थिर' ऐसे अचेतन (शरीर) के साथ किसलिए स्नेह करते हो?

भली भाँति देखो! इस शरीर मन्दिरमें यह चेतनदीपक शाश्वत है। मन्दिर (शरीर) तो छूटता है, परन्तु शाश्वत रत्नदीपक ज्योंका त्यों रहता है। व्यवहारमें तुम नटकी भाँति अनेक स्वाँग धारण करते हो, नट तो ज्योंका त्यों रहता है। उसीप्रकार बद्ध एवं स्पृष्टभाव कर्मका है, तथापि (जीवद्रव्य) कमलपत्रकी भाँति कर्मसे नहीं बँधता, स्पर्शित नहीं होता। जिस प्रकार मिट्टी अन्य-अन्य भाव (आकार) धारण करनेपर भी एक है, उसीप्रकार (जीवद्रव्य) अन्य-अन्य पर्याय धारण करने पर भी एक है। जिसप्रकार समुद्र तरंगों द्वारा वृद्धि-हानि करता है, तथापि समुद्रपनेसे[1] निश्चल है,

---

१. सिंधुमें तरंग जैसें उपजै विलय जाय,
नानाभांत वृद्धिहानि जामें यह पाइये;
अपने स्वभाव सदा सागर सुथिर रहै,
ताकी व्यय उत्पाद कैसें ठहराइये।
तैसें परजाय मांहि होय उत्पाद—व्यय,
चिदानन्द अचल अखण्ड सुधा पाइये;
सरब पदारथमें स्वारथ स्वरूप ही को,
अविनाशी देव आप ज्ञानज्योति ध्याइये। —ज्ञानदर्पण—१८४

उसीप्रकार (जीव द्रव्य) विभाव द्वारा वृद्धि-हानि करता है, (किन्तु) वस्तु निज अचल है। जिसप्रकार सुवर्ण वानभेद होने पर भी अभेद है, उसीप्रकार कर्मसे अनेक भेद होने पर भी वस्तु (चैतन्य) अभेद है। (जिसप्रकार) स्फटिकमणि पुरी (रंगीन वस्तु) से हरा, लाल भासित होता है (तथापि) स्वभाव तो श्वेत है। पर वह पर है; निज चेतनामें पर नहीं है। पर् भाव ऊपर-ऊपर ही रहते हैं। जलके ऊपर काई की भाँति। चिदानन्द! अपनी गुप्त शुद्धशक्तिको व्यक्त-रूपसे भाओ, जिससे वह व्यक्त हो। तू अविनाशीरसका सागर, पररस कैसे मीठा देखा? जिसके निमित्तसे संसारका चक्कर हुआ—उसीको भला जानकर सेवन करते हो? जैसे मदिरा पीनेवाला मदिरा पीता जाता है, दुःख पाता जाता है, अधिक चक्करमें भला जान-जानकर सेवन करता है, उसीप्रकार तूँ भूला है।

जैसे कि—एक नगरमें एक पुरुष रहता है। नगर सूना है, वहाँ दूसरा कोई नहीं है। उस नगरमे चौरासी लाख घर है, वहाँ वह पुरुष उन घरोंको हमेशा सुधारता ही रहता है। फिर दूसरे दिन दूसरेमें (अन्य घरमें) रहे तब उसे सुधारता है। इसप्रकार उन भीतोंको सुधारते—सुधारते सारा जीवन बीत गया। उसे सुधारनेका रोग हुआ। जबसे सुधारता था तबसे रोग लगा था। वह अपनी परम चतुराईको भूला। उस पुरुषको बड़ी विपत्ति आ पड़ी कि बिना प्रयोजनके अकेला सूने घरमें अपनी मेहनत—मजूरीमें वह लगा रहता है। स्वयं अनन्त बलवान होने पर भी वृथा भूलकर दुःख प्राप्त करता है। इस पुरुषका नगर तो एक परम बसतिका, वहाँका वह राजा है। उसे सँभाले तो सूने घरोंकी सेवा छोड़ दे और वहाँका राज्य करे। उसप्रकार यह चिदानन्द चौरासी लाख योनिके शरीरोंको सजाता रहता है। जिस घरमें रहे, निवास करे, उसे सजाता है, फिर दूसरे शरीर-झोंपड़ीको सजाता है, फिर दूसरी मिलती है उसे

सँभारता फिरता है। सब शरीर जड़, उन जड़ोंकी सेवा करते–करते अनादिकाल बीता। इस शरीर-सेवाका कर्मरोग अनादिका लग रहा है; इस रोगके कारण अपना अनन्त बल क्षीणताको प्राप्त हुआ। जन्मादिकी बड़ी विपत्ति भोगता है। जड़को ऐसा मानता है कि (वह) मैं ही हूँ।

जिसप्रकार[1] वृक्ष पर बैठा हुआ बन्दर (मूलका) एक पत्ता खिरनेपर रोता है। उसीप्रकार (यह भी) अपने शरीरका एक अंश भी कम हो वहाँ भिन्न–भिन्न प्रकारसे रोता है। ‘यह मेरे और मैं इनका’ इसप्रकार झूठे ही ऐसे जड़ोंकी सेवासे सुख मानता है। अपनी शिवनगरीका राज्य भूला है, यदि श्रीगुरुके कहनेसे शिवपुरीको सँभाले तो वहाँका स्वयं चेतनराजा अविनाशी राज्य करे। ‘वहाँ चेतना बस्ती है, तीनलोकमे आन वर्ते और भवका भ्रमण मिटकर फिर जड़में न आए’। आनन्दघनको पाकर सदा शाश्वत सुखका भोक्ता हो, सो कहते हैं :—

यह परमात्मपुरुष, उसकी निजपरिणति अनन्त महिमारूप परमेश्वरपदमें रमण करनेवाली है। वही मूल प्रकृति–पुरुष प्रकृतिके विवेकरूप वृक्ष, उसका निजानन्द फल, उसका तू रसास्वादन करके सुखी हो। जैसे किसी राजाको पराया गढ़ (किला) लेना कठिन है, उसीप्रकार इस आत्माको परपद लेना कठिन है। किसलिए? कि अनादिकालसे परपद लेता फिरता है; तथापि वह पररूप नहीं हुआ, चेतन ही रहा। और चेतनापद आत्माका है, उसे जानता भी नहीं है, भूला ही फिरता है, तथापि उसकी रहन (उसका रहना) उसीमें है, इसलिए (वह) कठिन नहीं है, अपना स्वरूप ही है। भ्रमका परदा स्वयंने ही अनादिसे किया है, इसलिए स्वयं अपनेको भासित नहीं होता, किन्तु स्वयं अपनेको छोड़कर बाहर नहीं गया है।

---

१. पाठान्तर :—जैसें वानर एक कांकराके पड़े रोवै।

जैसे नटने पशुका वेश धारण किया उससे वह मनुष्य मनुष्यपनेको छोड़कर बाहर नहीं गया है। पशुका वेश धारण न करे तो मनुष्य ही है; (उसीप्रकार) भ्रमसे परका ममत्व न करे तो, देहका स्वांग धारण न करे तो, चिदानन्द ज्योंका त्यों रहे। जैसे एक डिब्बीमें रत्न रखा है (इससे) उसका कुछ बिगड़ा नहीं है (वह) गुप्त (है), ढक्कन दूर करके निकाले तो व्यक्त है; उसी प्रकार शरीरमें छुपा हुआ आत्मा है, उसका कुछ बगड़ा नहीं है, (वह) गुप्त है, कर्मरहित होने-पर प्रकट होता है। गुप्त और प्रकट ये अवस्थाभेद हैं; दोनों अवस्थाओंमें स्वरूप ज्योका त्यों है; ऐसा श्रद्धाभाव सुखका मूल है। जिसकी दृष्टि पदार्थ शुद्धि पर नहीं है, (और) कर्म दृष्टिसे अशुद्ध अवलोके तो वह शुद्धताको प्राप्त नहीं होगा। जैसी दृष्टिसे देखे वैसा फल होता है। मयूरमुकरन्द पाषाण है, उसमें सब मोर ही भासित होते हैं। पाषाणकी ओर देखनेसे मोर भासते हैं, पदार्थकी ओर देखनेसे पदार्थ ही हैं, मोर नही, उसी प्रकार परमें पर भासित होता है, निजकी ओर देखे तो पर भासित नहीं होता, निज ही है। (इससे) सुखकारी निजदृष्टि छोडकर दु:खरूप परमें दृष्टि नहीं देना।

हे चिदानन्दराम ! अपनेको अमररूपमें देखो। मरण तुझमें नहीं है। जैसे—किसीके घरमें चक्ररत्न, चौदहरत्न, नवनिधि है, तथापि वह दरिद्री होकर फिरता है। वह उसके-अपने चक्रवर्ती पदके अवलोकन मात्रसे चक्रवर्ती स्वयं होता है, उसी प्रकार स्वपदको परमेश्वर रूप अवलोके तो (उसी क्षण) परमेश्वर है। देखो, देखो ! (कितनी बड़ी) भूल ! अवलोकन मात्रसे परमेश्वर होता है; ऐसा अवलोकन नहीं करता, इन्द्रियचोरोंके वश होकर अपने निधानको लुटाकर दरिद्री होकर भवविपत्ति भरता है, भूलको नहीं मिटाता। ऐसे चिद्विकार रूप जीव हो, तब परको अपनेरूप मानता है; वह भाव जीवका निजजाति-स्वभाव नहीं है। उन भावोंमें जो चेतना व्याप्त हो रही है उसी चेतनाको एक तू जीव निजजातिस्वभाव जान। यह चेतना

है वह केवल जीव है, वह अनादि-अनन्त एकरस है। इससे इस चेतनाको साक्षात् स्वयं जीव जानना, इससे शुद्ध चेतनारूप जीव हुआ। इन रागादि भावोंमें स्वयं ही रत (लीन) होता हुआ जीव कर्म-चेतनारूप होकर प्रवर्तता है; चेतना—जीवचेतना, चेतनारूप स्वयं विद्यमान है, (स्थित है)। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना जीव-चेतनाका विकार है; परन्तु व्यापक चेतना है। चेतना जीवके बिना नहीं होती। चेतना शुद्ध जीवका स्वरूप है। उसे जानने पर ज्ञाता जीवका ऐसा भाव होता है:—

अब मैंने शुद्ध चेतनारूप स्वरूपको जाना; ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मैं हूं, विकाररूप मैं नहीं हूं; सिद्ध समान हूं, बंध-मोक्ष-आस्रव-संवररूप मैं नहीं हूं। मैं अब जागृत हुआ, मेरी निद्रा गई, मैं अपने स्वरूपको एक (अभेद) अनुभव करता हूं, अब मैं संसारसे भिन्न (पृथक्) हुआ, मैं स्वरूप-गजपर आरूढ़ हुआ। (मैंने) स्वरूप-गृहमें प्रवेश किया, इस संसार परिणामका मैं प्रेक्षक हुआ। अब मैं स्वयं अपने स्वरूपको देखता-जानता हूं। इतना विचार तो विकल्प है। ज्ञानके प्रत्यक्षरसका भावमें वेदन करना वह अनुभव है। प्रतीति-रूप विचार वह साधक है, अनुभवका भाव साध्य है। साधक-साध्य भेदको जाने तो वस्तुकी सिद्धि हो, वह कहा जाता है :-

साध्य-साधकके उदाहरण कहे जाते हैं:—एक क्षेत्रावगाही पुद्गल कर्मका ही सहज उदय, स्थिति तक रहता है वह साधक अवस्था जानना। वहाँ, तबतक—उसके रहनेकी स्थिति तक—चिद्विकार होनेका प्रवर्तन हो उसे साध्य भेद जानना। मिथ्यात्व साधक, बहिरात्मा साध्य है। सम्यग्भाव साधक है, वहाँ वस्तुस्वभावजाति सिद्ध होना वह साध्य है। जहाँ शुद्धोपयोग परिणति होना साधक है, वहाँ परमात्मा साध्य है। व्यवहाररत्नत्रय साधक है, वहाँ निश्चय रत्नत्रय साध्य है। जहाँ सम्यग्दृष्टिको विरति-व्यवहारपरिणति होना साधक है, वहाँ चारित्रशक्ति मुख्य होना साध्य है। जहाँ देव-शास्त्र-गुरुकी

भक्ति, विनय, नमस्कारादि भाव साधक है, वहाँ विषय-कषायादि भावोंसे उदासीनतारूप मनपरिणतिकी स्थिरता साध्य है। जहाँ एक शुभोपयोगरूप व्यवहारपरिणति होना साधक है, वहाँ परम्परा मोक्ष साध्य है।

जहाँ अन्तरात्मारूप जीवद्रव्य साधक है, वहाँ परमात्मारूप अभेद जीवद्रव्य स्वयं ही साध्य है। जहाँ ज्ञानादिगुण मोक्षमार्गरूपसे साधक हैं, वहाँ अभेद ज्ञानादि गुण स्वयं ही मोक्षरूपसे साध्य हैं। जहाँ जघन्य ज्ञानादिभाव साधक हैं, वहाँ अभेद स्वयं ही उन्हीं ज्ञानादि गुणोंका उत्कृष्ट भाव साध्य है। जहाँ ज्ञानादि अल्पनिश्चयपरिणतिसे साधक हैं, वहाँ अभेद स्वयं ही बहुनिश्चय परिणतिरूप ज्ञानादिगुण साध्य हैं। जहाँ सम्यक्त्वी जीव साधक है, वहाँ उस जीवको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र साध्य हैं। जहाँ गुणमोक्ष साधक है, वहाँ द्रव्यमोक्ष साध्य है। जहाँ क्षपकश्रेणीमें चढ़ना साधक है, वहाँ तद्‌भव साक्षात् मोक्ष साध्य है। जहाँ[१] द्रव्यसे, भावसे (हुआ) यतिव्यवहार साधक है, वहाँ साक्षात् मोक्ष साध्य है। जहाँ भावमनादि रीतिका विलय साधक है, वहाँ केवल साक्षात् परमात्मारूप होना साध्य है। जहाँ पौद्‌गलिक कर्मका खिरना साधक है वहाँ चिद्–विकारका विलय होना साध्य है।

जहाँ परमाणुमात्र परिग्रहप्रपञ्च साधक है, वहाँ ममताभाव साध्य है। जहाँ मिथ्यादृष्टि होना साधक है, वहाँ संसार-भ्रमण होना साध्य है। जहाँ सम्यग्दृष्टि होना साधक है, वहाँ मोक्षपद होना साध्य है। जहाँ काललब्धि साधक है, वहाँ द्रव्यका वैसा ही भाव होना साध्य है। मैंने स्वभावसाधन द्वारा अपने स्वरूपको साध्य किया है। इस साध्य-साधकभावको जानने पर सहज ही साध्य सधता है। इसका विशेष वर्णन करते हैं—

---

१. पाठान्तर :—इस पंक्तिकी जगह "द्रव्यतैं भावतैं साक्षात् हेत" ऐसा पाठ है।

मैं मनुष्य, मैं देव, मैं नारकी, मैं तिर्यंच, यह शरीर मेरा है, (इस प्रकार) परमें निजभाव, परको अपनेरूप मानना, स्वरूपसे बाह्य पर पदार्थोंमें परिणाम तन्मय करना, रागभावसे रंजकता करके परके स्वरूपको अपने रूप प्रतीति करके जानना, ऐसा मिथ्यात्व, मिथ्यात्वके दूसरे भेदको (गृहीत मिथ्यात्वको) साधता है। ऐसे मिथ्यात्वको (किस प्रकार) साधता है, सो कहते हैं:-

अतत्त्वश्रद्धान सो मिथ्यादर्शन, अयथार्थ ज्ञान सो मिथ्याज्ञान, अयथार्थ आचरण सो मिथ्याचारित्र। तारण-बुद्धिसे क्षुधादि अठारह[1] दोष सहित देवकी भक्ति करनेसे मिथ्यात्व होता है। काहेसे?—कि (वह) परानुभवी है—मिथ्यात्व लीन है, उनका सेवन करनेसे मिथ्यात्व होता है; ऐसे दोष सहित ग्रन्थलीन (परिग्रहलीन), विषयारूढ, परबुद्धि-धारकको गुरु माननेसे मिथ्यात्व (होता है); मिथ्याशास्त्र, मिथ्यामत, मिथ्याधर्म, उन्हे माननेसे मिथ्यात्व (होता है), वह मिथ्यात्व बहिरात्माका साधक है, इस मिथ्यात्व सेवनसे अनादिका (जीव) बहिरात्मा हुआ है, इससे बहिरात्मा साध्य है। दूसरा, सम्यक् भाव साधक है। वह वस्तुका जो स्वभाव अनंतगुण उसकी सिद्धि करता है। काहेसे?—कि सर्वगुण यथाविधिस्वरूप जब अपने सम्यक् स्वरूपको धारण करते हैं तब सम्यक्भाव सहित होता है। ज्ञानका निर्विकल्प जानपना सर्व आवरण रहित, केवलज्ञानरूप, सम्यक् अवस्थारूप, सो सम्यग्ज्ञान कहिए। इस प्रकार आवरण रहित, शुद्ध सम्यक्रूप यथावत् निश्चयभावरूप निर्विकल्प सर्व गुणोंको सम्यक कहते हैं।

---

१. जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद,
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिंता स्वेद;
रागद्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष,
नाँहि होत अरहंतके, सो छवि लायक मोष।

द्रव्य अपने द्रव्यत्व जैसा शुद्धस्वरूप है, उस सहित (है,) पर्याय (अपना) जैसा कुछ परिणमनरूप स्वभाव है, उस सहित (है;) इसीप्रकार सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वभावजाति सिद्ध होना सो सम्यक्‌भावसे है। इसलिए सम्यग्भाव साधक है, वस्तुस्वभावजाति सिद्ध होना वह साध्य है। शुद्धोपयोग परिणति साधक है, परमात्मा साध्य है,—वह कैसे ? कि—स्वभावसगसे शुद्धोपयोग होता है। ज्ञान-दर्शन तो साधक है इसलिए शुद्धोपयोग, चारित्ररूप शुद्धोपयोग सर्वरूप है। वे ज्ञान-दर्शन तो साधक है इससे सर्वरूप शुद्ध नही है, कुछेक शक्तियो द्वारा शुद्ध हैं। चारित्रगुण (तो) बारहवें गुणस्थानमे सर्वरूप शुद्ध है, परन्तु तेरहवें, चौदहवे गुणस्थानमे परम यथाख्यातका नाम प्राप्त करता है इसलिए कुछ ज्ञानशक्ति शुद्ध हुयी, उस ज्ञानशक्तिसे केवलज्ञानरूप, गुप्त, निजरूप उसे प्रतीतिमे व्यक्त करे तब परिणतिने केवलज्ञानकी प्रतीति-रुचि-श्रद्धाभाव करके निश्चय किया। गुप्तके व्यक्त श्रद्धानसे (वह) व्यक्त हो जाता है।

एकदेश स्वरूपमे शुद्धत्व सर्वदेशको साधता है। शुद्ध निश्चय-नयमे शुद्धस्वरूप जाना, परिणतिमें शुद्ध निश्चय हुआ, तब वैसा ही वेदन (अनुभव) किया। शुद्धका निश्चय शुद्ध परमात्माका कारण है, इसलिए शुद्धोपयोग साधक, परमात्मा साध्य है, व्यवहाररत्नत्रय साधक है, निश्चय साध्य है। वह किस प्रकार ?—तत्त्वश्रद्धानमें परका हेय श्रद्धान और निज तत्त्वका उपादेय श्रद्धान है। तत्त्वज्ञानमें पर तत्त्वका रूप हेय जाना, निजतत्त्वको उपादेय जाना। भवभोगादि विरति कार्यकारी जानी, सम्यक्त्वाचरण रीति उपादेय जानी। ऐसे व्यवहारतत्त्वसे प्राप्त विचार हेय-उपादेयके सम्यग्भेद सहित होते हैं। यह व्यवहार होने पर मन-इन्द्रिय-उपयोगका निरोध करके निज सम्यक्-स्वरूपको शुद्ध अनुभवता है, सिद्ध-समान निज स्वरूपका श्रद्धान करता है, सात तत्त्वोंको एकमेक नहीं करता, निज शुद्धतत्त्व अनुभवगोचर करता है। निश्चयसे श्रद्धानमें अपना परमात्मा शुद्ध

है। निश्चयसे ज्ञान, परमात्माका जानना केवलज्ञान-जातिसे जानता है; अल्प सम्यग्ज्ञानसे सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञानको (अपनी) प्रतीतिमें जानता है। स्वसंवेदनमें जातिरूपसे अपना स्वरूप केवलज्ञानमें बराबर जाना; अल्प ज्ञानमें बहुत ज्ञानकी प्रतीति आयी। निश्चयसे स्वरूप जाना, उस निश्चयज्ञान-परिणतिसे स्वरूपमें आचरण करना सो स्वरूपाचरण है। परमात्माका श्रद्धान-ज्ञान, निश्चयसे कुछेक ज्ञानादि शुद्ध शक्तियोंसे हुआ, तदनुसार ही आचरण हुआ। निश्चयनय परमात्मा है। परिणति वैसी ही निश्चय रूप परिणमित हुयी है। वह निश्चय रत्नत्रय प्रथम व्यवहार रत्नत्रय होने पर होता है। इसलिए व्यवहार-रत्नत्रय साधक है, निश्चय रत्नत्रय साध्य है। सम्यग्दृष्टिके विरति-व्यवहारपरिणति साधक है, वहाँ चारित्रशक्ति मुख्य साध्य है। वह कहा जाता है – विरतिपरिणति अर्थात् रति न होना। उसका भेद विषयोंमें रति नही, कषायोंमें रति नही, अशुभाचरणका त्याग, शुभा-चरणमे भी रति नहीं, कर्म क्रियाओंमें भी रति नही। ज्यों-ज्यों पर-रतिभाव छोडे त्यों-त्यो स्वरूपमें स्थिरता, विश्राम और आचरण होता है, वहाँ चारित्र कहते हैं। परिणति शुद्धता प्रकट होने पर चारित्र शक्ति मुख्य साध्य है।

देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति-विनय-नमस्कारादि भाव साधक हैं, वहाँ विषयादिसे उदासीनतामें परिणतिकी स्थिरता (होना वह) साध्य है। देवभक्ति, व्यक्त शुद्ध चेतनारूप, प्रकट अनंतगुणरूप ऐसे व्यक्त परमात्मा, उनकी पूजा, सेवा, (उनके प्रति) मनसे परिपूर्ण प्रीति, बाह्य प्रभावना, अंतरग ध्यान, गुण वर्णन, अवज्ञा-अभाव, परम उत्साह, मन-वचन-काय-धन सर्व भक्तिके निमित्तसे लगाए और अपने प्राणसे (अधिक) प्रिय जाने, प्राणको दुःखमूल जाने। उसे अनन्त सुखका कारण जाने, शुद्ध स्वरूप जानकर भक्ति करे, स्वयं शुद्धस्वरूपका अभिलाषी होनेसे उनकी भक्ति रुचि-श्रद्धा-प्रतीतिसे करे, शास्त्रकी भक्ति करे। किसलिए ?—कि अपना स्वरूप शास्त्रसे प्राप्त करता है। संसारदुःखकी हानि स्वरूपभावनासे होती है उसे प्राप्त करे। स्व-

पर विवेक ग्रन्थोंसे प्रकट होता है। मोक्षमार्ग, मोक्षस्वरूप वाणीसे समझमें आता है, इसलिए शास्त्रभक्ति कही है। गुरु मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। ऐसे श्रीगुरु सर्व दोष रहित, उनकी भक्ति कही है। उनकी भक्ति मुक्तिका कारण जानकर करे। तब भवभोगसे उदास होकर मन स्वरूपकी ही स्थिरता चाहे, क्रिया साधे; इसलिए उनकी भक्ति साधक है, मनकी स्थिरता साध्य है।

शुभोपयोगके तीन भेद हैं—क्रियारूप, भक्तिरूप और गुण–गुणीके भेद-विचार रूप; इन तीनोंके सातिशय-सहित और निरतिशय-सहित छह भेद हुए। सम्यक्त्व-सहित तो तीनों सातिशय, सम्यक्त्व-बिना तीनों निरतिशय। सम्यक्त्व-सहितमें तो नियम है कि वह परम्परा मोक्ष करता ही करता है। सम्यक्त्व-रहित शुभोपयोग संसारसुख देता है, देवपद देता है अथवा राजपद देता है; वहाँ देव–गुरु–शास्त्रका निमित्त हो उसे लाभ होना हो तो होता है, नहीं तो नहीं होता। कार्य कारण बिना नियम है, ऐसी रीति जानना। इसप्रकार शुभोपयोग साधक है, परम्परा मोक्ष साध्य है।

अन्तरात्मा भेदज्ञान द्वारा परसे भिन्न निजरूपको जानता है। सिद्ध समान प्रतीति ज्ञानगोचर करे तब स्वयमेव साधक है, निश्चय-नयसे अभेद परमात्मा साध्य है। जहाँ ज्ञानादि मोक्षमार्ग अर्थात् शुद्धोपयोगरूप एकदेश स्वसंवेदन, वहाँ मोक्षस्वरूप अभेद ज्ञानमूर्ति आत्माको साधता है, इसलिए अभेदज्ञान मोक्षरूप साध्य है। जघन्य ज्ञानसे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए, जघन्य ज्ञान साधक, उत्कृष्ट ज्ञान साध्य है। जहाँ अल्प ज्ञानादिसे निश्चय करे वहाँ वह निश्चय बढ़ता है। जिस प्रकार अल्प अमलसे, (उसे) चाहकर लीन होनेसे, अमल बहुत चढ़ता है वैसे ही अति निश्चयपरिणतिरूप ज्ञानादि गुणोंमें वृद्धि हो वह साध्य है। सम्यक्त्वी जीव दर्शन–ज्ञान चारित्रको साधता है, इसलिए सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र साध्य है,

सम्यक्त्वी साधक है। सम्यक्त्व (सम्यक्) ज्ञानादि भाव शुद्ध होनेसे जब द्रव्यकर्म मिटे तब द्रव्यमोक्ष होता है, इसलिए गुणमोक्ष साधक है, द्रव्यमोक्ष साध्य है। क्षपकश्रेणीमें चढ़े तो तद्भव मोक्ष होता है, इसलिए क्षपकश्रेणी चढ़ना साधक है और तद्भव मोक्ष साध्य है। द्रव्यसे (द्रव्य) लिंग हो और भावसे स्वरूपभावका भाव हो तब साक्षात् मोक्ष साधता है, इसलिए द्रव्यसे, भावसे हुआ यति-व्यवहार साधक है, वहाँ साक्षात् मोक्ष साध्य है। भावमलका विकार विलय होने पर साक्षात् मोक्ष होता है, इसलिए भावमलादि रीतिका विलय साधक है, साक्षात् मोक्षरूप साध्य है।

जहाँ पौद्गलिक कर्म खिरना साधक है, काहेसे ? कि, पौद्गलिक कर्मविपाक आने पर मनोविकार उपजता है जब पुद्गल ही खिर जाता है तब मनोविकार कहाँसे रहेगा ? इसलिए मनोविकारका विलय होना साध्य है, कर्मका खिरना साधक है। यदि परमाणुमात्र भी परिग्रह हो तो ममताभाव होगा और होगा ही, अतः परमाणुमात्र परिग्रह साधक है, ममताभाव साध्य है। मिथ्यात्वसे संसारभ्रमण होता है इसलिए मिथ्यात्व साधक है, ससारभ्रमण साध्य है। सम्यक्त्व होने पर मोक्ष होता है इसलिए सम्यक्त्व साधक है, मोक्ष होना साध्य है। जैसी काललब्धि आए वैसी ही स्वभावसिद्ध होती है, इसलिए काललब्धि साधक है, वैसा ही स्वभाव होना साध्य है। साधक-साध्य भेद अनेक हैं, उन्हें जानना।

शब्द साधक है, अर्थ साध्य है। अर्थ साधक है, ज्ञानरस साध्य है। स्थिरता साधक है, ध्यान साध्य है। ध्यान साधक है, कर्मोंका खिरना साध्य है। कर्म-खिरना साधक है, द्रव्यमोक्ष साध्य है। राग-द्वेष-मोहका अभाव साधक है, संसार-अभाव साध्य है। धर्म साधक है, परमपद साध्य है। स्वविचार प्रतीतिरूप साधक है, अनाकुल भाव साध्य है। समाधि साधक है, निज शुद्ध स्वरूप साध्य है। स्याद्वाद साधक है, यथार्थ पदार्थकी साधना साध्य है। भली भावना साधक

है, विशुद्ध ज्ञानकला साध्य है। विशुद्ध ज्ञानकला साधक है, निज परमात्मा साध्य है। विवेक साधक है, कार्य साध्य है। धर्मध्यान साधक है, शुक्लध्यान साध्य है। शुक्लध्यान साधक है, साक्षात् मोक्ष साध्य है। वीतराग-भाव साधक है, कर्म-अबन्ध (कर्मका बन्ध न होना वह) साध्य है। संवर साधक है, निर्जरा साध्य है। निर्जरा साधक है, मोक्ष साध्य है। चिद्विकार-अभाव साधक है, शुद्धोपयोग साध्य है। द्रव्यश्रुतका सम्यक् अवगाहन साधक है, भावश्रुत साध्य है। भावश्रुत साधक है, केवलज्ञान साध्य है। चेतनमें चित्तको लीन करना साधक है, अनुभव साध्य है। अनुभव साधक है, मोक्ष साध्य है। नयभंगी साधक है, प्रमाणभंगी साध्य है। प्रमाण भगी साधक है, वस्तुसिद्धि करना वह साध्य है। शास्त्रका सम्यगअवगाहन साधक है, श्रद्धा-गुणज्ञता साध्य है। श्रद्धागुण साधक है, परमार्थ प्राप्त करना वह साध्य है। यतिजन-सेवा साधक है, आत्म हित साध्य है। विनय साधक है, विद्यालाभ साध्य है। तत्त्वश्रद्धान साधक है, निश्चय सम्यक्त्व साध्य है। देव-शास्त्र-गुरुकी प्रतीति साधक है, तत्त्व प्राप्त करना वह साध्य है। तत्त्वामृत पान करना साधक है, ससार-खेद मिटना साध्य है। मोक्षमार्ग साधक है, संसार खेद मिटना साध्य है।

मोक्षमार्ग साधक है, मोक्ष साध्य है। ध्यान साधक है, मनो-विकार विलय (होना) साध्य है। ध्यानाभ्यास साधक है, ध्यानसिद्धि साध्य है। सूत्रतात्पर्य साधक है, शास्त्रतात्पर्य साध्य है। नियम साधक है, निश्चयपदको प्राप्त करना वह साध्य है। नय, प्रमाण, निक्षेप साधक है, न्यायस्थापना (न्यायको स्थापित करना वह) साध्य है। सम्यक् प्रकारसे हेय-उपादेयको जानना साधक है, निर्विकल्प निजरस पीना वह साध्य है। परवस्तुसे विरक्तपना साधक है, निज-वस्तुकी प्राप्ति साध्य है। पर दया साधक है, व्यवहार धर्म साध्य है। स्वदया साधक है, निजधर्म साध्य है। संवेगादि आठ गुण साधक

है, सम्यक्त्व साध्य है। चेतनभावना साधक है, सहजसुख साध्य है। प्रणायाम साधक है, मनोवशीकरण साध्य है। धारणा साधक है, ध्यान साध्य है। ध्यान साधक है, समाधि साध्य है। आत्मरुचि साधक है, अखण्ड सुख साध्य है। नय साधक है, अनेकान्त साध्य है। प्रमाण साधक है, वस्तुको प्रसिद्ध करना वह साध्य है। वस्तु ग्रहण साधक है, सकल-कार्यसामर्थ्य साध्य है। पर-परिणति साधक है, भवदुःख साध्य है। निज-परिणति साधक है, स्वरूपानन्द साध्य है। इस प्रकार साधक-साध्यके अनेक भेद जानकर निज अनुभव करो। यह सब स्वरूपानन्द प्राप्त करनेके लिए बतलाया है। कर्म कल्पना कल्पित[1] है, आत्मा सहज अनादि सिद्ध है, अनन्त सुखरूप है, अनन्त गुणमहिमाको धारण करता है। वीतरागभावनासे शुद्धोपयोगको धारण करके, स्वरूप-समाधिमे लीन होकर स्वसंवेदन ज्ञानपरिणति द्वारा परमात्मा प्रकट करो।

कोई कहेगा कि आजके समयमें निजस्वरूपकी[2] प्राप्ति कठिन है, (क्योंकि) परिग्रहवन्त[3] तो बहिरात्मा है, इसलिए (ऐसा कहनेसे

१. शुद्धातम अनुभौ क्रिया, शुद्ध ज्ञान दृग दौर,
मुक्ति-पन्थ साधन यहै, वागजाल सब और ॥
—श्री पं. बनारसीदासजी कृत
नाटक समयसार

२ पाठान्तर :—'निजस्वरूपकी प्राप्ति कठिन है।' इसके बदले 'स्वरूप कठिन है' ऐसा पाठ है।

३. बाह्य परिग्रह चाहे थोड़ा या बहुत कितना ही क्यों न रहे, किन्तु उसमें विशेषता, ममत्व, मूर्च्छा, गृद्धता या अत्यासक्ति की है। जो जितना ममत्व-परिणामवाला होगा वह उतना ही अधिक परिग्रही है, किन्तु (चारित्र अपेक्षासे भेदज्ञानी) जितना ममत्व कम करेगा उतना अपरिग्रही है। भरत चक्रवर्ती छह खण्डकी विभूतिके धारक थे, किन्तु वे उसके स्वामी नहीं थे। उसे वे कर्मोदयका विपाक समझते थे, इस कारण वे उस परिग्रहमें रहने

उसने) स्वरूप प्राप्त करनेकी रुचि मिटा दी। (पाठान्तर :—ऐसा कहनेवाला स्वरूपप्राप्त करनेकी चाह मिटानेवाला बहिरात्मा है।) किन्तु आजसे अधिक परिग्रह चतुर्थकालवर्ती महापुण्यवान नर चक्रवर्ती आदिके था, तब इसे तो अल्प है; वह परिग्रह कहीं ओराबरीसे (बलजबरीसे) इसके परिणामोंमें नहीं आता; यह स्वयं ही दौड़-दौडकर परिग्रहमें फँसता है। जब काम न हो तब विकथा करता है, उस समय स्वरूपके परिणाम करे तो कौन रोकता है? परपरिणाम सुगम, निजपरिणाम विषम बतलाता है। देखो, आश्चर्यकी बात है कि देखता है, जानता है तथापि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता; ऐसा कहते हुए लज्जा भी नहीं आती! संसार-चातुरीमें चतुर, अपनेको जाननेमें शठ, ऐसी हट धृष्टतासे पकड़-पकडकर पररत-व्यसनमें गाढ़ हुआ है। स्वभावबुद्धिको भूलकर, भारी भव बाँधकर (अंध होकर) अँधाधुंध दौड़ा, अपनेको न पहचाना। अब श्रीगुरु प्रतापसे सत्संग प्राप्त करो, जिससे भवताप मिटे, अपनेको अपनेमें ही प्राप्त करे, ज्ञानलक्षणसे पहिचाने, अपना चितवन धारण करे, निज-परिणति बढाए, निजमें लौ लगाए, सहज स्वरसको प्राप्त करे, कर्म

पर भी नाममात्रके परिग्रही थे। किन्तु जो बाह्यमें दरिद्री हैं और अन्तरंगमें अत्यन्त मूर्च्छासे युक्त हैं वे बाह्य सामग्रीके संचय बिना भी बहु परिग्रही हैं।

पुनश्च, बाह्य परिग्रह चाहे जितना क्यों न रहे, ज्ञानी जीव उसे अपना नहीं मानते, इससे वे बलजबरीसे या अबरन् किसीका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। परन्तु जब अपने ही परिणाम बिगाड़े तभी बाह्य वस्तुको निमित्तकारण कहा जाता है। इससे मात्र बाह्य वस्तुको दोष देना उचित नहीं है। अपनी सराग परिणति ही घातक है और बंध करती है। पं. बनारसीदासजीने ठीक कहा है कि—

ज्ञानी ज्ञान मगन रहे, रागादिक मल खोय।
चित्त उदास करणी करे, करम बन्ध नहिं होय॥

बन्धनको मिटाए, जिसमें निजपरिणति भाव लगाए, श्रेष्ठ चिद् गुण-पर्यायको ध्याए तब पूर्ण पाए, मनविश्राम आये, जो स्वरसास्वादको पाए (उसे) निजानुभव कहा जाता है। उसे दूरका कौन बतलाए? (पुनश्च) भवभ्रमण घटाए, स्वयं अलखको पहिचाने, चिदानन्दको दरशाए, अविनाशीरस प्राप्त करे, जिसका यश भव्यजीव गाते हैं, जिसकी अपार महिमा है। (जिसे) जाननेसे भवभार मिटता है। ऐसे महा अविकार समयसारको[1] जान लेना।

जिओ सदैव, करो ऐसा कि जिससे वह (आत्मा) (आत्माका) द्रोही न हो। जिनागममें ऐसी बात कही है कि स्वयंके अवलोकनसे शुद्ध उपयोग होता है, परका वियोग भानेसे सहज पहिचाना जाता है, तीन लोकका नाथ विख्यात है। निज अनुरागपूर्वक वीतरागभावको धारण करो; यह दाँव पाया है, पुन: (ऐसा) उपाय नहीं मिलेगा; इसलिए जिससे भवफन्द मिटे ऐसा भाव धारण करो। अत: मान-स्तंभको मिटाकर, मायाजालको जलाकर, क्रोधाग्निको बुझाकर, लोभ-लहरियोंको मिटाकर, विषयभावनाको न भाकर चिदानन्दराय-पदको देखो, देखो, स्वय अपनेको गवेषो (खोजो), पर-वेदनाका उच्छेदन करके, सहज भाव धरके, अन्तर्वेदी होकर, आनन्दधाराको निहारकर निश्चयरूप परमात्माको देखो।

---

१ आतम दरब जाकौ कारण सदैव महा,
ऐसौ निजचेतनमैं भाव अविकारी है;
ताहीकौ धरणहारी जीवकी सकति ऐसी,
तासौं जीव जीवै तिहुंकाल गुणधारी है।
द्रव्य गुण पर्याय ये तौ जीव दशा सब,
इनही मैं वस्तु जीव जीवसत्ता सारी है;
सबकौ आधार सार महिमा अपार जाकी,
जीवन सकति 'दीप' जीव सुखकारी है। ५९।

इस परिणतिरूप नारीसे ललचाकर कुमति सखीके संगसे गति-गतिमे डोलता हुआ निजपरिणति रानीके वियोगसे महा दुःखी हुआ। अब निजपरिणति (त्रिया)के संग अतीन्द्रिय भोग भोगो, जहाँ सहज अविनाशी रस बरसता है। (पानकी) पीकमे[1] पद्मरागमणिकी कल्पना करके वृथा ही आनन्द मानते हो; इस प्रकार परमें निजभावकी[2] कल्पना करते हो वह झूठमूठ ही लालसा पूर्ण करने जाते हो, सो वह नही होगी। आकाशमें एक देव है, उसके हाथमे चिन्तामणि है, उसके प्रतिबिम्बको अपने बर्तनके जलमें देखकर (स्वम) मनमे विचारे कि 'मेरे पास चिन्तामणि है'। उसके विश्वास पर परका लाखोका देना किया, उसके क्या सिद्धि है? झूठी कल्पना तुम्हे ही दुःखदायी है। सच्चा चिन्तामणि अपने घरमे है, उसे तो देखा नही और (इस ओर) प्रतिबिम्बमेसे कुछ (चिन्तामणि) हाथ नही आएगा। अति खेद करते हो उसमे क्या बडाई है? अब अपना सच्चा अखण्डपद देखो! ब्रह्म सरोवर आनन्द सुधारससे पूर्ण है, जिसका सुधारस पीनेसे अमर हुआ जाता है, वह रस पिओ!

---

१ कफके रोगीने पान खाकर थूका है, उसे देखकर चन्द्रमाके प्रकाशमे किसीको ऐसा भ्रम हो कि यह लाल मणि है।

२ ज्ञानउपयोग योग जाको न वियोग हुवौ,
 निहारै निहारै एक तिहूं लोक भूप है,
चेतन अनन्तरूप सासतौ बिराजमान,
 गति गति भ्रम्यौ तोऊ अमल अनूप है।
जैसे मणिमाहि कोऊ कँचखण्ड मानै तोऊ,
 महिमा न जाय वामैं वाही को सरूप है;
ऐसे ही संसारिकै सरूवको विचार्यौ मै,
 अनादिको अखण्ड मेरौ चिदानन्द रूप है ॥ ३० ॥

—ज्ञानदर्पण

अथ अनुभववर्णनम्

पौद्गलिक कर्मसे ही पाँच इन्द्रिय और छट्ठ मनरूप संज्ञी देह बना है। उस देहमें उसके प्रमाणमें विद्यमान जीवद्रव्य भी इन्द्रिय और मनसंज्ञाका नाम प्राप्त करता है। भावइन्द्रिय, भावमन ऐसे छह प्रकारके उपयोगपरिणामके भी भेद हुए हैं। एक-एक उपयोग परिणाम एकको ही देखता, जानता[१] है। मनका उपयोग परिणाम चिन्ता-विकल्पको देखता, जानता है। परिणाम-विचार विकल्प-चिन्ता-रूप मानना होता है। ऐसा होनेसे उस परिणाम भेदको 'मन' नाम कहा है। देखो, संत! अब इसे एक ज्ञानका नाम लेकर कथन करता हूँ। उस ज्ञानके कथनसे दर्शनादि सर्वगुण आ गए। इन मन-इन्द्रिय भेदोंके ज्ञानकी पर्यायका नाम 'मति' सज्ञा है। मन, भेद ज्ञानसे (विशेष ज्ञानसे) अर्थसे अर्थान्तर विशेषको जानता है, उस जाननेको 'श्रुत' संज्ञा कहते हैं। वे दोनो ज्ञानपर्यायें (दो प्रकारसे) कुरूप (विपरीत रूप) (और) सम्यक्रूप हैं।

मिथ्यात्वीको मति-श्रुतरूप जानना है, उस जाननेमें स्व-पर व्यापक-अव्यापककी जाति नहीं है। उस ज्ञेयको अपने रूप जाने अथवा जाने भी नहीं। मिथ्यात्वीके जाननेमें कुरूपता-विपरीतता है। सम्यक्-दृष्टि परको पर जानता है, स्वको स्व जानता है। मिथ्यात्वी चारित्रमें परको निजरूप अवलम्बता है। (जबकी) सम्यक्दृष्टि निजको निजरूप अवलंबता है। सम्यक्ता (सम्यक्त्व) सविकल्प-निर्विकल्प रूपसे दो प्रकारसे है। अघन्यज्ञानी उस पर-ज्ञेयको अव्यापक पर-रूपत्वसे जानकर अपनेको जाननरूपसे व्यापक जाने वह तो सविकल्प सम्यक्ता है। दूसरे, जो स्वयं अपनेको ही जाननरूपसे अपनेको ही व्याप्य-व्यापक जानता रहे वह निर्विकल्परूप सम्यक्ता है। और जो एक

---

१. इसका विस्तृत विवेचन आत्मावलोकनके 'अनुभव विवरण' के प्रकरणमें देखना।

बार एक ही समयमें (स्व) स्वको सर्वस्वरूपसे जाने तथा सर्व परको पररूपसे जाने वहाँ चारित्र परम शुद्ध है, उस सम्यक्ताको परम सर्वथा-सम्यक्त्वता कहते हैं। वह केवलदर्शन-ज्ञान पर्यायमें होती है।

तथा जिस ज्ञेयके प्रति उपयोग लगाए, उसीको जाने, अन्यको न जाने। मिथ्यात्वीका या सम्यग्दृष्टिका ज्ञेयप्रयुंजन ज्ञान तो एक समान है, परन्तु भेद इतना ही है कि मिथ्यात्वी जितना जाने उतना अयथार्थरूप साधता है और सम्यग्दृष्टि उसी भावको जाने उन सबको यथार्थरूप साधता है; अतः उस सम्यग्दृष्टिके चारित्रके अशुद्ध परिणामसे बन्धन नहीं हो सकता। उन उपयोग परिणामोंने बन्ध-आस्रवरूप अशुद्ध परिणामकी शक्तिको रोक रखी है; इसलिए वह निरास्रव-निर्बन्ध है; और सर्व एक अपनेको ही स्वयं चित्तवस्तु व्यापक-व्याप्यतासे स्वयमेव प्रत्यक्ष देखने-जानने लगे और उस चारित्र परिणाम निज उपयोगमय चित्तवस्तुमें स्थिरीभूत शुद्ध वीतराग मग्न-रूप प्रवर्ते; उसीको चारित्रपरिणामजन्य निजार्थ (निजानन्द) होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित परिणाम निज चित्तवस्तुको ही व्याप्य-व्यापकरूप देखते हुए, जानते हुए, आचरते हुए निजस्वाद लेते हैं। उस निजस्वाददशाका नाम स्वानुभव[1] कहा जाता है।

स्वानुभव होनेपर निर्विकल्प सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। (उसे) स्वानुभव कहो या कोई निर्विकल्प दशा कहो, या आत्मसन्मुख उपयोग कहो, या भावमति, भावश्रुत कहो, या स्वसंवेदनभाव, वस्तुमग्नभाव, या स्वआचरण कहो, स्थिरता कहो, विश्राम कहो, स्वसुख कहो, इन्द्रियमनातीत भाव, शुद्धोपयोग, स्वरूपमग्न, या निश्चयभाव, स्वरस-साम्यभाव, समाधिभाव, वीतरागभाव, अद्वैतावलम्बीभाव, चित्त-

---

१. वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम;
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम। १७। समयसार नाटक

निरोधभाव, निजधर्मभाव, यथास्वादरूप भाव,—इसप्रकार स्वानुभवके अनेक नाम हैं; तथापि एक 'स्वस्वादरूप अनुभवदशा' ऐसा मुख्य नाम जानना। जो सम्यग्दृष्टि चतुर्थ (गुणस्थान) का है उसके तो स्वानुभवका काल लघु अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। (फिर) (उसे) वह (स्वानुभव) दीर्घकाल पश्चात् होता है। उससे (अविरत सम्यग्दृष्टिके कालसे) देशव्रतीका स्वानुभव रहनेका काल अधिक है और वह स्वानुभव अल्पकाल पश्चात् होता है। सर्वविरतिका स्वानुभव दीर्घ अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ध्यानसे भी होता है तथा अति अल्प-अल्पकालके पश्चात् स्वानुभव सातवें[1] गुणस्थानमें बारंबार होता ही रहता है। वही परिणाम जो कि पूर्वमें स्वानुभवरूप हुए थे वे तो स्वानुभवरूप रहे किन्तु वहाँसे (वे परिणाम) मुख्यरूपसे कर्मधारासे निकल-निकलकर, स्वरसस्वादरूप—अनुभवरूप—हो-होकर बढ़ते रहते हैं। ज्यों-ज्यों बादका काल आता है त्यों-त्यों बाद-बादके परिणाम स्वस्वादरसरूप—अनुभवरूप हो-होकर बढ़ते रहते हैं। इस प्रकार वहाँसे अनुभवदशाके परिणाम बढ़-बढ़कर पलटते हैं। ऐसा क्षीणमोह गुणस्थानके अन्त तक जानना।

हे भव्य! तू एक बात सुन...हम एकबार फिर कहते हैं। यह स्वानुभवदशा स्वसमयरूप[2] सुख है, शांति-विश्राम है, स्थिररूप है, निजकल्याण है, आराम है, तृप्तिरूप है, समभाव है, मुख्य मोक्षमार्ग है—ऐसा है। और यह सम्यक् सविकल्पदशा यद्यपि यहाँ उपयोग निर्मल है तथापि यहाँ चारित्रपरिणाम परावलम्बी, अशुद्ध, चंचल होनेसे सविकल्पदशा दुःख है, तृष्णाके कारण चंचल है, पुण्य-पापरूप कलाप (समूह) है, उद्वेगता है, असंतोषरूप है, ऐसे-ऐसे विलापरूप है। चारित्रपरिणामकी अवस्था अपनेमें देखी है, इसलिए भला यह है कि

---

१. सातवें गुणस्थानमें स्वानुभवदशा बारंबार होती ही रहती है।

२. पाठान्तर—स्वरसमयरूप

तू स्वानुभवरूप रहनेका उद्यम करता रह, यह हमारा वचन व्यवहारसे उपदेश कथन है। गुणस्थानानुसार जितनी-जितनी विशुद्धता, स्थिरता बढ़ी उतना-उतना सुख बढ़ा। बारहवें गुणस्थान तक कषाय कम होनेसे स्थिरता बढ़ी (और) मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे स्वसंवेदनरसमें वृद्धि हुयी। स्वसंवेदन स्थिरतासे उत्पन्न रसास्वादरूप स्वानुभव वह अनन्त सुखका मूल है।

यह अनुभव (प्रचंड धाराप्रवाह—मूसलधार वर्षारूप) जागृत होनेपर दुःख दावानल रंच भी नहीं रहता। मुनिजन स्वानुभवको भववास-घटाका[1] नाश करनेके लिए परम[2] प्रचण्ड पवन कहते हैं। अनुभव सुधाका पान करके अनेक भव्यजीव अमर हुए। अनुभव ही परम पूज्यपदको करता है। इसके बिना सब वेद-पुराण निरर्थक हैं, स्मृति विस्मृति है। शास्त्रार्थ व्यर्थ है। पूजा, भजन मोह है। अनुभवके बिना निर्विघ्न कार्य विघ्न है। परमेश्वरकथा भी झूठी है। तप भी झूठा है। तीर्थसेवन झूठा है।

(अनुभवके बिना) तर्क, पुराण, व्याकरण खेद है। ग्राममे गाय, श्वानकी भांति और वनमें हरिणादिकी भांति अज्ञान-तपस्वी है। पुरुष चाहे जहाँ रहे, अनुभव प्रसादसे वह (सदा) पूज्य है। अनुभव

---

१ घटा = बादल

२. अनुभौ अखण्ड रस धाराधर जग्यो जहाँ,
तहाँ दुःख दावानल रंच न रहतु है;
करम निवास भववास घटा भानवेकौं,
परम प्रचण्ड पौन मुनिजन कहतु हैं।
याको रस पियैं फिर काहूकी न इच्छा होय,
यह सुखदानी सब जगमें महतु है,
आनन्दका धाम अभिराम यह सन्तन कौ,
यहीके धरैया पद सासतो लहतु है। १२७। —'ज्ञानदर्पण'

-आनन्द, अनुभव-धर्म, अनुभव-परमपद, अनुभव-अनन्तगुणरससागर, अनुभवसे सिद्ध होते हैं। अनुपमज्योति, अमिततेज, अखंड, अजस्र, अमल, अबाधित, अरूप, अजर, अमर, अविनाशी, अलख, अछेद, अभेद, अक्रिय, अमूर्तिक, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व, अविगत (नित्य), आनन्दमय, चिदानन्द इत्यादि परमेश्वरके सर्व अनन्त विशेषणोंको अनुभव सिद्ध करता है; इसलिए अनुभव सार है। मोक्षका निदान, सब विधानका शिरोमणि, सुखका निधान, अम्लान, अनुभव है। इन्द्रादि[1] अनुभवी जीव ऐसे मुनिजनके चरणारविन्दका सेवन करते हैं, इसलिए अनुभवसे उन ग्रन्थ-ग्रन्थोंमे (प्रत्येक सद्ग्रन्थमें) अनुभवकी प्रशंसा कही है। अनुभवके बिना किसी साध्यकी सिद्धि नहीं है। अनन्त चेतनाचिह्नरूप, अनन्तगुणमण्डित, अनन्तशक्तिधारक, आत्मपदके रसास्वादको अनुभव कहते हैं।

---

१ परपद आपो मानि जगमें अनादि भम्यो,
पायो न स्वरूप जो अनादि सुखथान है।
रागद्वेष भावनमें भवथिति बाधा महा,
बिना भेदज्ञान भूल्यौ गुणको निधान है॥
अचल अखण्ड ज्ञानज्योतिको प्रकाश लिये,
घरमें ही देव चिदानन्द भगवान है।
कहै "दीपचन्द" आप इन्द्रहूमे पाय पैर,
अनुभौ प्रसाद पद पावै निरवान है ॥१२४॥
दोहा—चिरलक्षण पहिचानतें, उपजै आनद आप।
अनुभौ सहज सरूपको, जामें पुण्यप्रताप ॥१२५॥
जगमें अनादि बसि जे ते पद धारि आये,
तेऊ सब तिरे लहि अनुभौ निधानकों।
याके बिनु पाये मुनि हू सुपद मिलत हैं,
यह सुखसिन्धु दरसावै भगवानकों।

बारम्बार सर्व ग्रन्थका सार अविकार अनुभव है; अनुभव शाश्वत चिन्तामणि है। अनुभव अविनाशी रसकूप[1] है। अनुभव मोक्ष-रूप है। अनुभव तत्त्वार्थसार है। अनुभव जगत-उद्धारण है; अनुभवसे उच्च अन्य कोई पद नहीं है, इसलिए अनुभव सदा स्वरूपका करो। अनुभवकी महिमा अनन्त है। कहाँ तक बतलायें? आठ कर्म आत्म-प्रदेशपर अपनी स्थितिसे (स्थिति तक) बैठे हैं, वह सब पुद्गलका

नारकी हू निकसि जे तीर्थंकर पद पावै,
अनुभौ प्रभाव पहुचावै निरवाणको।
अनुभौ अनंतगुणधामके धरैया ही का,
तिहुलोक पूजै हित जानि गुणखानको ॥१२६॥

दोहा—गुण अनन्तके रस सबै, अनुभौ रसके माहि,
यातैं अनुभौ सारिखौ और दूसरो नाहि ॥१५३॥

पंचपरमगुरु जे भये, जे होंगे जगमाहि,
ते अनुभवपरसाद तैं, यामैं धोखो नांहि ॥१५४॥

—'ज्ञानदर्पण'

१ अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोखसरूप ॥१८॥

अनुभवके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है:
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसासु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है।
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौको स्वाद पंच अमृतको कौर है;
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोउ और है ॥ १९ ॥

—नाटक समयसार—उत्थानिका १८—१९

ठाठ है। उसके विपाकके उदयसे चिद्विकार हुआ; यह विकार जीवका है। नोकर्मरूप, द्रव्यकर्मरूप सर्व कर्मका पुद्गल है (और) भाव जीवके हैं। एकसौ अड़तालीस प्रकृतिवर्गणा जड़की बनी हैं; उनके विपाक–उदयकी व्यक्तताका निमित्त पाकर चिद्विकार हुआ, उस विकारका स्वाँग जीवने धारण किया है। यह भेदरंजक अशुद्धभाव, शुद्धभावकी शक्ति अशुद्ध हुयी तब हुआ है। अशुद्धता परके निमित्तसे उपजे (काई, उपाधि)—मैल है। (पाठान्तर :—अशुद्ध परिणमनके निमित्तसे यह कर्ममल लगा है) परन्तु इसे (जीवने) किया इसलिए इसका है, (परन्तु) इसका मूल भाव नहीं है। काहेसे?—कि बादलोंकी घटा लाल, श्याम, पीत, हरितरूप होनेसे आकाश वैसा नहीं हुआ। जिस प्रकार रत्नके ऊपर मिट्टी खूब लपेटी तथापि रत्नका प्रकाश मिट्टी लपटने पर भी नहीं गया, अंतर्शक्ति ज्योंकी त्यों है, उसीप्रकार आत्माके अशुद्धभाव होने पर भी आत्माकी दर्शन-ज्ञान शक्ति अभ्यन्तरमें ज्योंकी त्यो है। पर पुद्गलका नाटक (खूब) बना है, उसे पुद्गलका खेल जान, तू (उसे) अपने आत्माका खेल न जान।

सो कहते हैं। इस प्रकारका परिग्रह—क्षेत्र, बाग, नगर, कूप, वापी, तडाग (तालाब), नदी आदि सब पुद्गल, माता, पिता, कलत्र, पुत्र, पुत्री, वधू, बंधु, स्वजनादि सर्व (कुटुम्बीजन), सर्प, सिंह व्याघ्र, गज, महिष आदि सब दुष्ट, अक्षर, अनक्षर, शब्दादि, गाना, बजाना, स्नान, भोग, संयोग-वियोगकी सब क्रिया, परिग्रहका मिलाप सो बड़ा, परिग्रहका नाश सो दरिद्रपादि सब क्रिया, चलना, बैठना, हिलना, बोलना, काँपना आदि क्रिया, लड़ना, भिड़ना, चढ़ना, उतरना, कूदना, नाचना, खेलना, गाना, बजाना आदि जितनी क्रियाएँ सब पुद्गलका खेल जानो।

नर, नारक, तिर्यंच, देव उनका वैभव, भोगकरण, विषयरूप इन्द्रियोंकी क्रिया आदि सर्व पुद्गलका नाटक है। द्रव्यकर्म, नोकर्म

आदि सर्व पुद्गलका अखाड़ा है, उसमें तू चिदानन्द रंचित होकर अपना मानता है। अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्तगुणके अखाड़ेमें परिणतिपात्र नाचते हैं, स्वरूपरस उपजाते हैं, जितने गुण हैं उतनोंका वेदन करते हैं। द्रव्यका वेदन करते हैं। सर्व भाव-(स्वरूप) सत्ता मृदग है, प्रमेय ताल है, इत्यादि सब निज अखाड़ा है। इस प्रकार अपने निज अखाड़ेमें रंजित न होकर परके अखाड़ेमें (तूने) ममत्व किया, जिसके फलमें जन्मादि दु:खफल (तूने) स्वयं प्राप्त किए।

अब अपना सहज स्वादी होकर, परप्रेम मिटाकर चेतनाप्रकाशके विलासरूप अतीन्द्रिय भोग भोग; क्या झूठे ही सूने जडमें अपनत्व मानता है? तथा परको कहता है कि—(यह) हमें दु:ख देता है, (परन्तु) उसमें दु:ख देनेकी शक्ति नहीं है। दूसरेको झूठा उलाहना देता है, अपनी हरामजादगी (दुष्टता)को नहीं देखता। अचेतनको नचाता फिरता है और लज्जा नहीं आती। मुर्देसे सगाई करके, अब हम इससे ब्याह करके सम्बन्ध करेंगे तो ऐसी बात लोकमें भी निद्य है।

तुम तो अनतज्ञानके धारी चिदानन्द हो; जड़में अपनत्व माननेकी अनादिकालिन झूठी विडंबना मिटाओ। तुम उसे (मात्र) पर मानकर छोड़ो। पराचरणसे ही तुम्हारे दर्शन-ज्ञानमें लाभ नही हुआ है। यदि देखने-जाननेसे बंध होता तो सिद्ध लोकालोकको देखते हैं, जानते हैं, वे भी बँधते; (परन्तु) उसके साथ (लोकालोकके साथ) (सिद्धके) परिणाम तादाम्य नही है; इसलिए सिद्धभगवान् नहीं बँधते। परिणामसे ही संसार, परिणामसे ही मोक्ष मान; परिणाम ही राग-द्वेष-मोह परिणाम करते हैं, उनका यत्न (रक्षा) भी परिणाम ही करते हैं। ज्ञान-दर्शनमें राग-द्वेष नहीं हैं, वे (तो) देखने-जाननेमात्र हैं। उसकी (परिणामकी) विकारतासे वे भी (दर्शन-ज्ञान भी) विकारी कहे जाते हैं। यदि देखना-जानना राग-द्वेष-मोहसे हो तो बँधता है, राग-द्वेष-मोह न हो तो नहीं बँधता। यह परिणामोंकी शुद्धता

अभव्यके नहीं होती, इससे (उसके) ज्ञान–दर्शन शुद्ध नहीं होते। भव्यको स्वरूपाचरणके परिणाम होते हैं इससे (उसके) ज्ञान–दर्शन शुद्ध होते हैं। 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में कहा है कि—

स्वानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जायते[1] कुतो जन्म।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैश्यम्[2] ॥

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—वस्तु देखनेमें नहीं आती, जाननेमें नहीं आती (तो) उसमें परिणाम कैसे दें? (कैसे लगायें?) उसका समाधान :— परको देखता–जानता है वहाँ परको देखनेवाला उपयोग है तो देखता है, ज्ञान है तो जानता है। (उस उपयोगको अपनेमें लगाकर स्थिर करे तो) वह उपयोग स्वमें अस्तिरूप हुआ, (परसे) नास्तिरूप हुआ, जो इस उपयोगने ग्रहण किया उसीमें परिणाम धरकर, स्थिरता करके, आचरण करके विश्राम ग्रहण कर। परिणाम शुद्ध करनेमें इतना ही काम है। कहा है कि:—

'उवओगमओ जीवो' इति वचनात्।
(उपयोगमय जीव है इस वचनानुसार)।

क्योंकि परिणाम वस्तुको वेदकर स्वरूपलाभ लेता है—वस्तुमें लीन होता है। स्वरूपनिवास परिणाम ही करता है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य परिणाममें आए, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमें सत्[3] आया। (और) 'सत्' में सर्व स्वरूप आया। इसलिए परिणाम–शुद्धतामें सर्वशुद्धता आयी। कहा है कि:—

---

१. पाठान्तर :– 'जृंभते'

२. इस पद्यका भावानुवाद इस प्रकार है:— जिसप्रकार सूर्योदय होनेसे अंधकारका नाश होता है उसी प्रकार सम्यक् चारित्रसे दर्शन–ज्ञान विशुद्ध होनेसे पुनः संसारमें जन्म नहीं होता।

३. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम् (–तत्त्वार्थ सूत्र ५, २९–३०)

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो[1]॥
—(प्रवचनसार १-९)

परिणाम सर्व स्व-स्वरूपके हैं। पराचरणके दो भेद हैं—द्रव्य-पराचरण और भावपराचरण। परन्तु नोकर्म (द्रव्य) पराचरण उपचार है, परम्परासे अनादि उपचार है। देवादिक देहका धारण सादि उपचार है; द्रव्यकर्मयोग अनादि उपचार है। भावकर्म अशुद्ध-निश्चयनयसे है। द्रव्यकर्म-नोकर्मका द्रव्यपराचरण उपचारसे है। भावपराचरण राग-द्वेष-मोह है, उसका आचरण है।

कोई प्रश्न करे कि—यदि रागादिक जीवके भाव हैं, (और) परभाव स्पर्श, रस आदिक हैं, (तो) रागादिकको (वे जीवके भाव होने पर भी) परभाव क्यों कहा ?

उसका समाधान :—शुद्ध निश्चयनयसे रागादि जीवके नही है, वे भी पर हैं, काहेसे ?—कि वे भावकर्म हैं, उनके नाशसे मोक्ष होता है; पर हैं तो छूटते हैं, इससे (उन्हें) पर ही कहते हैं। जब यह (जीव) रागादिको अपना नहीं मानेगा तब भवबंधपद्धति मिटेगी। इसलिए पर ऐसे रागादिको छोड़कर शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र है उसे स्व (आपरूप) जानकर ग्रहण करो, यह मोक्षका मूल[2] है। परिणाम

---

१. इसका भावानुवाद निम्नानुसार है :—

जब परिणाम स्वभाववारी यह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामोंसे परिणमता है तब वह शुभ व अशुभ होता है, और जब शुद्ध परिणामोंसे परिणमता है तब निश्चयसे शुद्ध होता है।

२. सद्गुरु कहै भव्य जीवनिसौं, तोरहु तुरित मोहकी जेल,
समकितरूप गहौ अपनौ गुन, करहु शुद्ध अनुभवकौ खेल।
पुद्गलपिंड भावरागादिक इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल,
ये जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।
—नाटक समयसार ॥ १२ ॥

जिस-ओर ढले वैसे होते हैं। इसलिए परकी ओरसे हटाकर निज-परिणामको स्वरूपमें लगाओ। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य षट्गुणीवृद्धि-हानिरूप अर्थक्रियाकारक परिणामसे सधती है।

* अब देवाधिकार लिखते हैं *

क्योंकि देवसे परम मंगलरूप निजानुभव प्राप्त करते हैं इसलिए देव उपकारी हैं। देव परमात्मा हैं। अरिहन्त परमात्मा साकार हैं—शरीरयुक्त हैं, और सिद्ध निराकार हैं; चरम शरीरसे किंचित् न्यून आकार है, इसलिए (उन्हें) साकार भी कहा जाता है। अरिहन्तके अघाति कर्म शेष हैं इसलिए बाह्य विवक्षामें चार गुण व्यक्त नहीं हुए हैं, ज्ञानमें सब व्यक्त हुए है। सो कहते हैं :—नामकर्म मनुष्य गतिरूप है इससे सूक्ष्म बाह्य नही है, (बाह्यमें व्यक्त नहीं है), (परन्तु) केवलज्ञानमें व्यक्त है। वेदनीयकर्म है इससे बाह्य (बाह्यमें) अबाधित नही है: अन्तरमें-ज्ञानमें व्यक्त है। अवगाह बाह्य (बाह्यमें व्यक्त) नही है, (परन्तु) अपने ज्ञानमें व्यक्त है। अगुरुलघु-गोत्रसे बाह्य (बाह्यमें) व्यक्त नही है, (परन्तु) ज्ञानमें (व्यक्त) है। इस अघातिसे ही व्यक्त नामको प्राप्त नहीं हुए है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव पूज्य हैं, अरिहन्तका नाम लेते ही परम पदकी प्राप्ति होती है। (योगसारमें) कहा है कि .—

जिन सुमरो जिन चितवो, जिन ध्यावो सुमनेन,
जिन ध्यायतहि परमपद, लहिये एक क्षणेन ॥ १ ॥

जिनस्थापनासे सालम्बध्यान द्वारा निरालम्बपद प्राप्त करता है। कैसी है स्थापना ?—कहा है कि :—

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु।
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतमयी किं सर्वशोभामयी॥
इत्थं किं किमिति प्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्ष्यता (ताम्)
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सा ध्यानप्रसादम्महः ॥१॥

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिसम: ।
स्रोतो निर्झरणी समीहित विधौ कल्पेन्द्रवल्ली सताम् ॥
संसार प्रबलान्धकारमथने मार्तण्डचण्ड द्युति-
र्जैनी मूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्य: पिपासास्तिचेत्[1] ॥

स्वसंवेदनरूप वीतरागमुद्राको देखकर स्वसंवेदन भावरूप अपने स्वरूपका विचार करे :—पूर्वकालमें यह सराग थे, राग मिटाकर वीतरागी हुए हैं। वर्तमानमें मैं सराग हूँ इनकी भाँति यदि मैं भी राग मिटाऊँ तो अपने वीतरागपदको मैं प्राप्त करूँ। निश्चय (से) मैं वीतराग हूँ। कहा है कि :—

"पिच्छहु अरहो देवो पच्छरघडियो हु[2] दरसयं मग्ग"

—इति वचनात् ॥

---

१. इन पद्योंका भावानुवाद इस प्रकार है :—हे भव्य ! यदि तुझे मोक्षसुखकी पिपासा है, उसे प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा है, तो तुम्हें जैनमूर्तिकी उपासना करनी चाहिए। यह जिनबिम्बमूर्ति क्या ब्रह्मस्वरूप है ? क्या उत्सवमय है ? क्या श्रेयरूप है ? क्या ज्ञानानन्दमय है ? क्या उन्नतरूप है ? और क्या सर्व शोभासे सम्पन्न है ? इसप्रकार अनेक विकल्पोंसे क्या प्रयोजन है ? ध्यानके प्रसादसे आपकी मूर्तिको देखनेवाले भव्योंको क्या वह सर्वातीत तेजको दिखलाती है ?—हाँ, दिखलाती ही है।

तथा यह मूर्ति (जिनबिम्ब) मोहरूपी प्रचण्ड दावानलको शांत करनेके लिए मेघवृष्टिके समान है, यह इच्छित कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए नदीका स्रोत है, यह सज्जनके लिए कल्पेन्द्रलता है, कल्पलताके समान अभीष्ट फल-प्रदान करनेवाली है और संसाररूपी प्रबल अँधकारका नाश करनेके लिए मार्तण्डकी प्रचण्ड द्युति है, सूर्यका प्रबल प्रकाश है। अत: हे भव्य ! ऐसी उस वीतरागमूर्तिकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।

२ पाषाणके गढ़े होनेपर भी मार्गके दर्शक ऐसे अरहंत देवको देखो (अरहंत देवका दर्शन करो)।

इस स्थापनाके निमित्तसे तीनकाल तीनलोकमें भव्यजीव धर्म-साधते हैं, इससे स्थापना परम पूज्य है। द्रव्यजिन—द्रव्यजीव (है) वह भी भावपूज्य है। इससे भावीनयसे पूज्य हैं। अथवा तीन कल्याणक तक द्रव्यजिन हैं, वे पूज्य हैं। समवशरण मण्डित, अनन्त चतुष्टययुक्त भावजिन भव्यजीवोंको तारें, दिव्यध्वनिसे उपदेश देकर साक्षात् मोक्षमार्गकी चर्चा करें—ऐसे परमात्माको भावजिन कहा जाता है।

अब सिद्धदेवका वर्णन करते हैं। सिद्ध निराकार परमात्मा हैं; अनन्तगुणरूप हुए अपने अनन्त सुखको गुणों एवं पर्यायोंसे वेदकर द्रव्य-गुणका उपभोग करते हैं। लोकशिखर पर विराजते हैं। षट्गुणी-वृद्धिहानिरूप अर्थपर्याय तथा चरमदेहसे किंचित् न्यून, प्रदेशोंकी आकृति—आकाररूप व्यंजनपर्याय (से युक्त हैं)। कहा है कि :—

मोम गयो गलि मूसिमें जारत अम्बर होय;
पुरुषाकारे ज्ञानमय वस्तु प्रमानौं सोय[1]।

देवको जाने तब स्वरूपानुभव होता है।

। इति देवाधिकारः ।

---

१. ध्यान हुताशनमें अरि ईंधन, झोंक दियो रिपुरोक निवारी;
शोक हर्यो भवि लोकनको वर, केवलज्ञान मयूख उघारी।
लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्म जरा मृत पंक पखारी;
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हें पग धोक त्रिकाल हमारी।११।
तीरथनाथ प्रणाम करैं, तिनके गुणवर्णनमें बुधि हारी;
मोम गयो गलि मूस मँझार, रह्यो तहँ व्योम तदाकृति धारी।
लोक गहीर नदी पति नीर, गये तिर तीर भये अविकारी;
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हें पग धोक त्रिकाल हमारी।१२।
—'जैन शतक' पं. भूधरदास—सिद्धस्तुति

* अथ ज्ञानाधिकारः *

ज्ञान, लोकालोक सकल ज्ञेयको जानता है; (क्योंकि) निश्चयसे जिसका जाननेरूप स्वरूप है ऐसी ज्ञानकी शक्ति है। वह संसार अवस्थामें अज्ञानरूप हुयी है, तथापि निश्चयसे निजशक्ति जाती नहीं है। बाद्दलघटाके आवरणसे सूर्यका तेज नहीं जाता, उसीप्रकार ज्ञानावरणसे ज्ञान नही जाता; आवृत हो जाए (किन्तु) नष्ट नहीं होता। ज्ञान सर्व गुणोमें बड़ा गुण है; उसमे अनंतगुण प्रकट जानते हैं। ज्ञानके बिना ज्ञेयका ज्ञान नही होता, ज्ञेयके बिना जानने योग्य कुछ भी न होता, इसलिए ज्ञान प्रधान है; **अनंत गुणात्मक वस्तु तथापि ज्ञानमात्र ही है।** आचार्यने अनेक ग्रन्थोंमें आत्माको ऐसा कहा है। काहेसे?—कि "**लक्षणप्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्धयर्थम्**" (लक्षणकी प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि करनेके लिए आत्माका ज्ञानमात्ररूपसे व्यपदेश किया जाता है)। जैसे—मंदिरको श्वेत कहा जाता है। यद्यपि मंदिर स्पर्श, रस, श्वेतादि अनेक गुण धरता है, तथापि दूरसे श्वेत गुण द्वारा भासता है, इसलिए मुख्यतासे श्वेत मन्दिर कहा जाता है। आत्मामें प्रसिद्ध लक्षण ज्ञान है इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा कहा है। एक-एक गुणकी अनत शक्ति, अनत पर्यायें, एक अनेक भेदादि सर्वको जानता है। ज्ञानके बिना वस्तु सर्वस्व निर्णयरूप स्वरूपको नहीं जानती, इसलिए ज्ञान प्रधान है। मति-ज्ञानादि ज्ञानकी पर्यायें है। वह क्षयोपशमज्ञान अंश शुद्ध हुआ (इससे) पर्याय ज्ञेयाकार ज्ञानपर्याय द्वारा लोकालोकको जानती है। ज्ञेयका नाश होता है किन्तु ज्ञानका नाश नहीं है; इसलिये जितना ज्ञेय उतना ज्ञान, मेचक उपयोग लक्षण ज्ञान (है), उपचारसे ज्ञानमें ज्ञेय है, इसलिए वस्तुस्वरूपमें ज्ञेयके विनाशसे ज्ञानका विनाश नहीं है।

यहाँ कोई तर्क करे कि—ज्ञानमें सर्व ज्ञेय उपचारसे हैं, तो सर्वज्ञ-

पद उपचरित हुआ, उपचार झूठा है तो क्या सर्वज्ञपद झूठा हुआ ?

उसका समाधान :—जिसके उपचारमात्रमें ही लोकालोक भासित हुआ, तो उसके निश्चयज्ञानकी महिमा कौन कहे ? यह ज्ञान, स्वसंवेदन ही होता हुआ, सर्वको जानता है। स्वको जानते हुए परका जानना स्थापित होता है, परको जानते हुए स्वका जानना स्थापित होता है। परकी अपेक्षासे स्व है, स्वकी अपेक्षासे पर है। विवक्षासे वस्तु-सिद्धि है (और) ज्ञानसे स्वरूपानुभव है।

यह ज्ञानाधिकार है।

* अब ज्ञेयाधिकार लिखते हैं *

"ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयं" जानने योग्य पदार्थको ज्ञेय कहा जाता है। उस पदार्थकी तीन अवस्थाएँ हैं। द्रव्य-अवस्था, गुण-अवस्था और पर्याय-अवस्था, (उनमें) द्रव्य-अवस्था मुख्य है। काहेसे ?—कि पदार्थ द्रव्य-अवस्था न धरे तो द्रव्यके बिना गुण-पर्यायका व्यापना न हो, तो द्रव्य (भी) न हो, तो पदार्थ (भी) न हो, इसलिए द्रव्य-अवस्था मुख्य है। फिर गुण-अवस्था है। काहेसे ?—कि गुणके बिना द्रव्य नहीं होता इससे 'गुणसमुदायो द्रव्यं[1]', ऐसा जिनवचन है। पर्याय-अवस्था न हो तो वस्तुको परिणमित कौन करेगा ? उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य (भी) नहीं सधेंगे। षड्-गुणीवृद्धिहानि नहीं होगी, तब तो अर्थपर्यायका अभाव होनेसे वस्तुका अभाव होगा, इससे पर्याय-अवस्थासे सर्वसिद्धि है।

द्रव्य, गुण-पर्यायमें व्यापता है; गुण, द्रव्य-पर्यायमें व्यापता है तथा पर्याय, गुण-द्रव्यमें व्यापती है—तीनों अवस्थाएँ पदार्थकी हैं। पदार्थ सत्त्व (–स्व) अवस्थासे अस्ति है, परचतुष्टय-अवस्थासे नास्ति

---

1. गुणसमुदाय वह द्रव्य है।

है; गुण—अवस्थासे अनेक हैं, वस्तु—अवस्थासे एक है; गुणादि भेदसे भेदरूप है, अभेद वस्तुस्वरूपसे अभेद है; द्रव्यसे नित्य है, पर्यायसे अनित्य है; शुद्ध निश्चयसे शुद्ध है, सामान्य–विशेषरूप वस्तु (होनेसे) वस्तुत्व है, द्रव्यके भावको धरनेसे द्रव्यत्व है, प्रमेयके भावको धरनेसे प्रमेयरूप है, अगुरुलघुके भावको धरनेसे अगुरु-लघु अवस्था है, प्रदेशको धरनेसे प्रदेशरूप है, अन्यत्व-गुण-लक्षण-भेद अन्यसे अन्यत्व है, स्व परसे अन्य है, नाना (अनेक) पदार्थोंसे अन्य है, द्रव्यत्व है, पर्यायत्व है, सर्वगत (है,) असर्वगत है, अप्रदेशत्व है, मूर्त है, अमूर्त है, सक्रिय, अक्रिय, चेतन, अचेतन, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, नाम, उपलक्षण, क्षेत्र, स्थिति, संस्थान, सरूप, फल, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन, तत्स्वभाव, अतत्स्वभाव, सप्त भंगरूप अन्योन्यगुणसे सिद्धि, गतिहेतुत्व, स्थिति-हेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, मूर्तत्व आदि विशेष गुणरूप पदार्थ सामान्य–विशेष स्वभावको धारण करता है। अनेक (भिन्न–भिन्न) पदार्थ (से तथा) एक पदार्थसे जैसी विवक्षा हो वैसी समझ लेना।

पदार्थ सत्तारूप है। सत्ता, महासत्ता[1] अवान्तरसत्ता[2] (ऐसे) दो भेदवाली है। सत्त्व और असत्त्व, त्रिलक्षण और अत्रिलक्षण, एकत्व और अनेकत्व, सर्वपदार्थस्थितत्व और एक पदार्थस्थितत्व, विश्वरूप और एकरूप, अनंतपर्यायत्व और एकपर्यायत्व। 'द्रव्य' ऐसा द्रव्यभाव सर्वद्रव्योंमें वह महासत्ता। 'जीवद्रव्य' 'पुद्गल द्रव्य' ऐसे स्वरूपरूप वर्ते वह अवान्तरसत्ता। द्रव्यसत्ता अनादि अनंत है, पर्यायसत्ता सादि-सान्त है। स्वरूपसत्ताके तीन प्रकार हैं—द्रव्य-स्वरूपसत्ता, गुणसत्ता, पर्यायसत्ता। गुणसत्ताके अनंत भेद हैं,

---

१. समस्त पदार्थोंके अस्तित्वगुणको ग्रहण करनेवाली सत्ताको, महासत्ता कहते हैं।

२. किसी विवक्षित पदार्थकी सत्ताको, अवान्तरसत्ता कहते हैं।

ज्ञानसत्ता, दर्शनसत्ता, अनंतगुणसत्ता (यह सब) पृथक्त्व भेद नहीं हैं, किन्तु अन्यत्व भेद हैं। जितने कुछ निज द्रव्य गुण, पर द्रव्य गुण हैं, सर्व द्रव्योंकी अतीत, अनागत, वर्तमानरूप तीनकालकी जितनी पर्यायें हैं, नव पदार्थ, द्रव्य–गुण–पर्याय, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य —इन सबको आगममें ज्ञेय नामसे कहा है। जो कुछ ज्ञानगोचर हो उस सबको ज्ञेयके नामसे जानो।

'ज्ञातुं योग्य ज्ञेयं' यह ज्ञेयाधिकार (पर) ज्ञेयको जानते हुए परको प्रकट करता है, इससे निजज्ञेयको जानकर स्वरूपानुभव करना।

* अब निजधर्माधिकार कहा जाता है *

वस्तुस्वभाव वह निजधर्म, तो आत्माका निजधर्म—निर्विकार सम्यक् यथारूप अनंत गुणपर्याय स्वभाव—उसे धर्म कहते हैं। निश्चय-ज्ञान-दर्शनादि अपने धर्म हैं। जीव निजधर्म धरते ही परम शुद्ध है। निज अर्थात् स्व, उसका धर्म अर्थात् स्वभाव, उसे निजधर्म कहते हैं।

प्रश्न :—अपने स्वभावरूप सर्व पदार्थ हैं, उनका धर्म वह उनका निजधर्म है। आत्माका (धर्म) आत्मामें है, अतः ज्ञान–दर्शनको ही निजधर्म ऐसा न कहो?

समाधान :—स्वभाव तो सर्व सबको ही (सर्वगुणोंको ही) कहलाता है। उनका धर्म (वह) उनका स्वभाव, वह तो ऐसा ही है। परन्तु तारणधर्म, सजीवधर्म, प्रकाशधर्म उनके धर्मको प्रकाशते हैं। ऐसा धर्म—परमधर्म, हितरूपधर्म, असाधारणधर्म, अविनाशी सुखरूप धर्म, चेतनाप्राणधर्म, परमेश्वरधर्म, सर्वोपरिधर्म, अनंतगुणधर्म, शुद्धस्वरूप-परिणति धर्म, अपार महिमाधारकधर्म, निजशुद्धात्मस्वभावरूप धर्म—वह निजधर्म है। उनका विशेष भेद कहा जाता है :—

इस अनादि संसारमें जीव कर्मयोगसे जन्मादि दुःख भोगता है; वह इस परधर्मको निजधर्म मानता है, इसलिए दुःख प्राप्त करता

है। यह तो सत्य है। काहेसे ?—कि यदि सरदार—प्रधान पुरुषको निश्च माने तो दण्ड सहता है। निज देहमें चेतनधर्म माने तो वह दुःख पाएगा और अवश्य पाएगा। शुद्ध चैतन्यधर्मको जब धर्म जाने तब वह संसार-तारणधर्म, अनंतचेतनारूप धर्म जाने, उसके द्वारा शुद्धचैतन्य जीवधर्म, स्वज्ञेय-परज्ञेयको प्रकाशे इसलिए प्रकाशधर्म, उसने सर्वद्रव्योंके धर्म प्रकट किये, उनके धर्मोंको प्रकट ले आया।

सबसे उत्तम इसलिए परमधर्म, निजरूपसे अनंत सुख होता है इसलिए हितधर्म, अन्यमें नहीं है इसलिए असाधारणधर्म, सहजरूप अविनाशी आनन्द है इसलिए अविनाशी सुखरूपधर्म, चेतनाप्राण धरता है इसलिए चेतनाप्राणधर्म, सहजरूप परमेश्वर है ऐसा स्वभावमय परमेश्वरधर्म, सबसे उत्कृष्ट है इसलिए सर्वोपरिधर्म, जिसका स्वभाव अनतगुणरूप है इसलिए अनतगुणधर्म, शुद्ध होने पर सदैव शुद्ध स्वरूपसे परिणमित होता है इसलिए शुद्धस्वरूपपरिणतिधर्म, अपार महिमा सहित है इसलिए अपार महिमाधारक धर्म, अनत शक्तिको धरता है इसलिए अनन्तशक्तिरूपधर्म, एक गुणकी अनंत पर्यायें, ऐसे अनतगुण अनंत महिमाको धारण करते हैं—उस निजधर्मकी महिमाको कहाँ तक कहे ? एकदेश निजधर्म धारण करनेसे भी संसारपार होता है। कोहेसे ?—कि एकदेश होने पर सर्वदेश होता और होता ही है। इससे ऐसा जानों (समझो) कि 'परधर्मसे अनंत दुःख, निजधर्मसे अनंत सुख'। इसलिए निजधर्मको धारण करके अपने परमेश्वरपदको प्रकट करो। निजधर्मकी धारणा अनुभवसे होती है। निजधर्म होनेसे अनुभव होता है। इसलिए अनुभवसार सिद्धिहेतु निजधर्म-अधिकार कहा।

* अब मिश्रधर्म-अधिकार कहा जाता है *

वह मिश्रधर्म अंतरात्माको है। ऐसा कोहेसे ?—कि स्वरूप-श्रद्धान सम्यक् (है, और) जितना कषाय-अंश है उतनी राग-द्वेष धारा है। आत्मश्रद्धाभावमें आनन्द होता है। कषाय सर्वथा नहीं

गए, मुख्य ज्ञानभाव है और गौण परभाव है, एक अखण्ड चेतना-भाव सर्वथा नहीं हुआ है, इसलिए मिश्रभाव है। बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव—एकदेश अज्ञानचेतना है और कर्मचेतना भी है; इसलिए मिश्रधारा है। उपयोगमें स्वरूपकी प्रतीति हुयी किन्तु शुभाशुभ कर्मकी धारा बहती है, उससे रंजकभाव कर्मधारामें है। परन्तु स्वरूपश्रद्धान मोक्षका कारण है, भवबाधा मिटानेमें समर्थ है। कर्मधाराकी ऐसी कोई दुर्निवार गाँठ है कि यद्यपि प्रतीतिमें स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया है तथापि सर्वथा (स्वरूप) न्यारा नहीं हुआ है, मिश्ररूप है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—सम्यक् गुण क्षायिक–सम्यग्दृष्टिको सर्वथा हुआ है या नहीं हुआ? उसका समाधान कहो।

यदि ऐसा कहोगे कि सर्वथा हुआ है तो (उसे) सिद्ध कहो। काहेसे?—कि एक गुण सर्वथा विमल होनेसे सर्व (गुण) शुद्ध होते हैं। सम्यकगुण सर्व गुणोंमें फैला है, (इससे) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सर्व गुण सम्यक् हुए। (परन्तु) सर्वथा सम्यग्ज्ञान नहीं है, एकदेश सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा सम्यग्ज्ञान हो तो सर्वथा सम्यक्गुण शुद्ध हो, इसलिए सर्वथा नहीं कहा जाता।

(तथा) यदि किंचित् सम्यक् गुण शुद्ध कहे तो सम्यक्त्वगुणका घातक जो मिथ्यात्व–अनंतानुबन्धी कर्म था वह तो नहीं रहा; जिस गुणका आवरण जाए वह गुण (सर्वथा) शुद्ध होता है इसलिए (सम्यक्गुण) किंचित् (शुद्ध) भी नहीं बनता।

तो किस प्रकार है? उसका समाधान किया जाता है:—वह आवरण तो गया परन्तु सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जानेसे सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए इसलिए परम सम्यक् नहीं है। सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक् हो तब 'परम सम्यक्' ऐसा नाम होता है। विवक्षाप्रमाणसे कथन प्रमाण है। उस दर्शन–प्रति की

पौद्गलिक स्थिति जब नाश हुयी तभी इस जीवका जो सम्यक्त्वगुण मिथ्यात्वरूप परिणमा था वह सम्यक्त्वगुण सम्पूर्ण स्वभावरूप होकर परिणमा—प्रकट हुआ। चेतन–अचेतनकी भिन्न प्रतीतिसे वह सम्यक्त्व-गुण निजजातिस्वरूप होकर परिणमा, उसका लक्षण ज्ञानगुण अनंत-शक्ति द्वारा विकाररूप हो रहा था, उस गुणकी अनंतशक्तिमें कुछ शक्ति प्रकट हुयी। उसका सामान्यत: नाम मति–श्रुत हुआ कहते हैं, अथवा निश्चयश्रुतज्ञान-पर्याय कहते हैं, जघन्यज्ञान कहते हैं; ज्ञानकी शेष सर्व शक्ति रहीं वे अज्ञान—विकाररूप होती हैं। उस विकार शक्तिको कर्मधारारूप कहते हैं। उसी प्रकार जीवकी दर्शनशक्ति अदर्शनरूप रही है। उसी प्रकार जीवके चारित्रकी कुछ शक्ति चारित्ररूप और शेष कुछ विकार रूप हैं। इसी प्रकार भोगगुणका (समझना)। सर्वगुण जितने निरावरण उतने शुद्ध, शेष विकार, यह सब मिश्रभाव हुआ। प्रतीतिरूप ज्ञानमें सर्व शुद्ध श्रद्धाभाव हुआ है, परन्तु ज्ञानको तथा अन्य गुणोंको आवरण लगा है इसलिए मिश्रभाव है, स्वसंवेदन है, परन्तु सर्व प्रत्यक्ष नहीं है। सर्व कर्म–अंश जाने पर शुद्ध है, अघाति रहने पर (भी) शुद्ध है। घातियाके नाशसे ही सकल[1] परमात्मा हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान तो हुआ है।

तथा सिद्ध निकल सकल कर्मरहित परमात्मा[2] हैं। अंतरात्माको ज्ञानधारा और कर्मधारा हैं।

कोई प्रश्न करे कि बारहवें गुणस्थानमें दो धाराएँ हैं या एक ज्ञानधारा ही है? यदि (एक) ज्ञानधारा ही तो (उसे) अंतरात्मा

१......तिनमें घाति निवारी;

श्री अरिहन्त सकल परमातम, लोकालोक निहारी।

२. ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महंता;

ते हैं निकल अमल परमातम, भोगें शर्म अनन्ता।

—छहढाला—पं. दौलतरामजी

मत कहो; और यदि दोनों धाराएँ हैं तो बारहवें गुणस्थानमें मोह क्षय हुआ है, राग-द्वेष-मोह सब गए हैं (तो) दूसरी कर्मधारा वहाँ कहाँ रही ?

उसका समाधान :—ज्ञान परोक्ष है, (क्योंकि) केवलज्ञानावरण है इसलिए अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक है; इससे अंतरात्मा है, प्रत्यक्ष ज्ञान बिना वह परमात्मा नहीं है। कषाय गए, किन्तु अज्ञानभाव है इसलिए वह परमात्मा नहीं है, अंतरात्मा है।

प्रश्न :—बारहवे (गुणस्थान)में अज्ञान क्या ?

उसका समाधान :—केवलज्ञानके बिना सकल पर्यायें नहीं भासती —वही अज्ञान है, निज प्रत्यक्षके बिना भी अज्ञान है, इसलिए 'अज्ञान' संज्ञा हुयी।

यह मिश्र-अधिकार (कहा)।

* निश्चय वस्तुस्वरूप *

अब, निश्चयसे वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा उसका कुछ वर्णन किया जाता है। वस्तुका अपना निजस्वरूप अनन्तगुणमय है, उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रधान है। काहेसे ?—कि देखने-जानने, परिणमन द्वारा वेदनेसे रसास्वाद अनुभव होता है, वहाँ सुख सम्यक्त्व प्रकट होता है। उनके द्वारा चेतना जाननेमें आयी तब चेतना सत्ता, चेतन-वस्तुत्व, चेतनद्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व कहे। इसलिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र जीववस्तुका सर्वस्व है। द्रव्य, गुण, पर्याय यह वस्तुकी अवस्था हैं। अनादिनिधन वस्तु अखण्ड चेतनारूप वर्तती है, परन्तु अनादि कर्मयोगसे अशुद्ध हो रही है; सुखनिधानको नहीं जानती तथापि शुद्धस्वरूप है।

जैसे किसीने किसी एक ज्ञानवान पुरुषसे कहा कि हमें शुद्ध चेतनकी प्राप्ति बतलाओ। तब उस पुरुषने कहा कि—अमुक एक ज्ञानवान है उसके पास जाओ, वह तुम्हें बतलाएगा—प्राप्ति कराएगा।

तब वह (वहाँ) गया। जाकर प्रश्न किया कि हमें चेतनको

प्राप्ति कराओ। तब उसने उससे कहा कि—समुद्रमें एक मच्छ रहता है, उसके पास तुम जाओ, वह मच्छ तुम्हे चैतन्यप्राप्ति कराएगा।

तब उसके उपदेशसे वह पुरुष उस मच्छके पास गया। जाकर प्रश्न किया कि हमें शुद्धचैतन्यकी प्राप्ति कराओ। तब मच्छने ऐसा वचन कहा कि—हमारा एक काम है वह पहले कर दो, तो फिर तुम्हें चिदानन्दमें लीन करें। तुम महान संत हो, हमारा कार्य किसीने अभी तक नहीं किया है, तुम पराक्रमी दिखायी देते हो; इससे यह नियम (निश्चय) है कि हमारा कार्य कर देनेपर अवश्य तुम्हारा कार्य कर देंगे ऐसा सत्य जानो। तब वह पुरुष बोला कि तुम्हारा कार्य करूँगा, सन्देह मत करो। तब मच्छने उससे कहा कि—मैं बहुत दिनोंका प्यासा इस समुद्रमें रहता हूँ, मेरी प्यास नहीं बुझी, पानीका योग नही मिला, कहीसे यत्न करके पानी लाओ, बड़ा उपकार करो, मेरी प्यास बुझाओ। महाजनकी रीति है कि परदुःख मिटाए इसलिए इतना उपकार करो, मैं तुम्हें चिदानन्द प्रत्यक्ष बतलाकर प्राप्ति कराऊँगा।

तब वह पुरुष बोला कि—तुम ऐसा क्यों कहते हो? सदा जल समूहमें तो रहते हो, (इसलिए) ऐसा न कहो कि 'जल लाओ'। समुद्रको ओर देखो; यह जलसे प्रत्यक्ष भरा है।

तब मच्छ बोला कि—यदि तुम ऐसा कहते हो, यह बात तुम मानते हो? (तो) तुम चिदानन्द प्रत्यक्ष हो, चेतना है तो ऐसा विचार तुमने किया है। अब तुम हमसे पूछने आए हो, परन्तु चिदानन्द हंस परमेश्वर तुम्हीं हो, इसलिए स्थिर होकर सन्देह छोड़ो, अपने चैतन्यस्वरूपका अनुभव करो, परके अनादि योगमें भी आत्मा ज्योंका त्यों है; परमें अत्यन्त गुप्त हुआ है; तथापि देखनेका स्वभाव नहीं गया, ज्ञानभाव नहीं गया, परिणाम (पररूप) नहीं हुए हैं। परको आवरणसे आवृत हुए, मलिन हुए; परन्तु निश्चयसे अखण्ड

स्वरूप चिदानन्द अनादिका है। वह ज्योंका त्यों बना हुआ है, कही घटा या बढ़ा नहीं है, (मात्र) भ्रम कल्पनासे स्वरूप भूला है। परको ही स्व माननेसे क्या हुआ[१]? सो कहते हैं—

जैसे कोई हाथमें रहे हुए चिन्तामणिको भूलकर कांचके टुकड़ेको रत्न मानकर चलाए तो वह रत्न नहीं हो जाता और चिन्तामणिको कांच जाने तो वह कांच नहीं होजाता। चिन्तामणिपना नही जाता। उसी प्रकार आत्माको पर जाने तो पर नहीं हो जाता और परको आत्मा जाने तो वह आत्मा नहीं होजाता[२]; वस्तु अपने स्वभावको त्याग किसी काल नही करती। वस्तु वस्तुत्वको नहीं छोड़ती, अपने

---

१. निहचै निहारत ही आतमा अनादि सिद्ध
   आप निजभूल ही तैं भयौ विवहारी है;
ज्ञायकसकति यथाविधि सो तौ गोप्य दई,
   प्रगट अज्ञानभाव दशा विसतारी है।
अपनो न रूप जानै और ही सौं और मानै
   ठानै बहु खेद निज रीति न संभारी है;
ऐसे तो अनादि कहो कहा सिद्धि साधी
   अब नैकहू निहारो निधि चेतना तुम्हारी है। (—ज्ञानदर्पण-४७)

२. ज्ञान उपयोग जोग जाको न वियोग होय
   निहचै निहारैं एक तिहूँ लोक भूप है;
चेतना अनंत चिह्नरूप सासतो विराजमान
   गति गति भ्रम्यौ तोऊ अचल अनूप है।
जैसे मणिमांहि कोई कांचखण्ड मानै तोऊ
   महिमा न जाय यामैं वाहीको सरूप है
ऐसे ही संभारिकै सरूपको विचारौ मैं
   अनादिको अखण्ड मेरो चिदानन्दरूप है। (—ज्ञानदर्पण-३०)

द्रव्यको नहीं छोड़ती, अपने प्रमाणको नहीं छोड़ती, अपने प्रदेशको नहीं छोड़ती—इत्यादि भावको नहीं छोड़ती; इसलिए वह अनादि-प्रदेश-प्रमाणको (अनादिसे चले आ रहे अपने प्रदेशप्रमाणको) नहीं छोड़ती। (वस्तु) शुद्ध-अशुद्ध दोनों अवस्थामें अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल-भावकी दशा नहीं छोड़ती। (उसकी) महिमा अनन्त अमिट है, (अर्थात्) किसीकी मिटायी नहीं मिटती, निश्चयसे जो है सो है। (इसलिए) निजवस्तुको श्रद्धान, ज्ञानादि अनंतगुणमात्र (रूप) जानकर अनंत सुख करे तो सुखी हो। उपायसे उपेयको प्राप्त किया जाताहै। वह उपेय, आनन्दघन परमात्मा परमेश्वर है। उसका उपाय इसलिए करना कि 'संसार-अवस्थामें ही शरीरमें कर्मबन्धसे गुप्त हुआ, परभावनासे दु:खी हुआ, अपना परमेश्वरपद नहीं पाया'। उसका उपाय हो तो उपेयको प्राप्त करे। वह उपाय कहा जाता है :—

अपने स्वरूपको प्राप्त करनेका उपाय, अपना उपयोग है। अन्य[1] उपाय तप–जप–संयमादि शुभकर्म है। जिसमें परमात्माकी भक्ति, शुभ भी प्रतीतिसे, कारण भी है। क्योंकि ध्यानसे कार्यकी सिद्धि होती है। ग्रन्थ–उपदेश भी कारण है; परन्तु उपयोग आने पर शुद्ध होता है, इससे उपयोगकी एकदेश शुद्धताकी वृद्धि ज्यों–ज्यों हो त्यों–त्यों मोक्षमार्गमें चढ़ता है। यह श्री जिनेन्द्र भगवान्का निराबाध उपदेश है। सकल उपाधि अनादिसे लगी आ रही है (किन्तु) जब उपयोगसे समाधि लगे तब साक्षात् शिवपंथ सुगम होता है। अनेक संत, स्वरूप–समाधि धर–धरकर पार हुए हैं। अब कुछ समाधि–वर्णन करते हैं—

* समाधि वर्णन *

समाधि तो प्रथम ध्यान होनेसे होती है। वह ध्यान एकाग्र-

---

१. यह कथन निमित्तसे है।

चिन्तानिरोध होनेसे होता है। वह चिन्तानिरोध राग-द्वेषको मिटाने पर होता है। वह राग-द्वेष इष्ट–अनिष्ट समागम मिटाने पर मिटता है। इससे जो जीव समाधि-वांछक हैं वे इष्ट–अनिष्टका समागम मिटाकर, राग-द्वेषको छोड़कर, (अन्य) चिन्ता मिटाकर, ध्यानमें मन धरकर, चित्स्वरूपमें समाधि लगाकर निजानन्दको भेटो। स्वरूपमें वीतरागतासे ज्ञानभाव हो तब समाधि उत्पन्न होती है (और) वह अपने स्वरूपमें मन लीन करता है। द्रव्य–गुण–पर्यायमें परिणाम लीन (रहते हैं), स्वसमय समाधि ऐसी होती है।

तब इन्द्रादि सम्पदाके भोग रोगवत् भासते हैं। 'द्रव्य'[1] ऐसा नाम द्रवणसे होता है। परिणाममें गुणोंको द्रवे (प्राप्त हो) वह द्रव्यस्वलक्षण है; इसलिए गुणद्रव्यमें (गुणसमुदायरूप द्रव्यमें) परिणाम लीन होते हैं। गुणद्रव्यमें द्रव्यत्व लक्षण है। जब परिणामसे द्रव्य-गुण मिल गए तब द्रव्यत्वकी एकदेशता (परिणामकी एकदेश लीनता) साधकको ऐसी हुई कि वह अनेक परिग्रहकी वेदना नहीं वेदता। रसास्वादमें लीन आनन्दरस तृप्त हुआ। जब मन परमेश्वरमें मिलकर लीन होता है, (वहाँसे बाहर) नहीं निकलता, परमानन्दका वेदन करता है तब स्वरूपकी धारणा होती है।

निरन्तर जहाँ अचल ज्योतिका विलास अनुभव प्रकाशमें हुआ, (वहाँ) उपयोगमें परिणाम जुड़े। ज्यों–ज्यों दर्शन-ज्ञान-चेतना अनूप, अखण्डित, अनंत गुणमण्डित स्वरूपको जानकर रसास्वाद ले, त्यों-त्यों परविस्मरण होकर, पर-उपाधिकी लीनता मिटकर, समाधि प्रकटती है, तब सम्यक् प्रकारसे उत्कृष्ट स्वरूपवेत्ता होता है। सम्यग्ज्ञान होनेपर वस्तुकी महिमा जानता है, जाननेपर आनन्द होता है। ज्ञान, आत्मको जानता है, ज्ञान दर्शनको जानता है, ज्ञान सर्वगुणोंको जानता है, द्रव्यको जानता है, पर्यायको जानता है, एकअनेक भेदसे साधक-

---

१. गुणानद्रवन्ति गुणैः वा द्रूयन्त इति द्रव्यं। —सर्वार्थसिद्धि

भाव जानता है। ज्ञानसे वस्तुको जाननेपर परमपद प्राप्त करता है। उसके जैसा (परमपद जैसा) सुख परोक्ष ज्ञानमें भी है। प्रत्यक्ष प्रतीतिमे वेदता है। वहाँ आनन्द ऐसा होता है। संप्रज्ञात-समाधिमें दु:खादिकी वेदना प्रत्यक्ष होनेपर भी वेदता नहीं है। विधान, स्वरूप वेदनेका है। मन विकार जितने अंशमें विलयको प्राप्त हुए उतनी समाधि हुयी, (और) सम्यग्ज्ञानसे वस्तुका जितना भेद गुणों द्वारा जाना उतना सुख-आनन्द बढ़ा। विश्राम होनेसे स्वरूप-स्थिरता प्राप्त की, समाधि लगी, ज्ञानधारा निरावरण हुयी, ज्यों-ज्यों निजतत्त्व जानता है त्यों-त्यों केवल विशुद्धता द्वारा ज्ञानपरिणति परम पुरुषके साथ मिलकर निज महिमाको प्रकट करती है, वहाँ अपूर्व आनन्द-भावकी झलक हो तब स्वरूपकी समाधि कहते हैं।

वहाँ आकुलताका मूल जो अनादिके अज्ञानका भ्रम-भाव था वह मिटा। अनात्मके अभ्यासके अभावसे सहजपदका भाव भानेसे भव-वासना विलयको प्राप्त होती है, गुणका निधान ऐसा परमपदका स्थान दिखता है, प्रमाणभाव द्वारा अम्लान भगवान्के सकल पदार्थोंको जाननेरूप ज्ञानकी प्रतीतिमें भवनिधान आदि जगतका विधान झूठ भासित हुआ तब आत्मभाव प्रकाशित हुआ, (उसकी) पहिचान (स्वयं) अपनेसे की तब चेतनभाव लिया, शुद्ध धारणा-धरके निज-भावना करके शिवपदको अनुसरके, आनन्दरससे भरके, भवबाधा हरके, जहाँ जितनी सदा प्रमोदपूर्वक अबाधा (करी) वहाँ इतनी शक्ति बढ़ी, शिवसुखदायी, चिदानन्दकी अधिकायी, ग्रन्थ ग्रन्थोंमे (प्रत्येक सद्ग्रन्थमें) गायी (कही) सो समाधिसे प्राप्त की जाती है।

इस स्वरूपानन्द-पदका भेदी (मर्मज्ञ) समाधिसे होता है। वस्तुके स्वरूपको, गुणके जाननेसे जानता है, गुणका पुंज वस्तुमय है। वस्तु अभेद है। गुणगुणीका भेद गुणसे हुआ। इसलिए गुणका भेद, अभेद वस्तुको जाननेमें कारण है।

वितर्क अर्थात् द्रव्यका शब्द, उसके अर्थको जाना। भावश्रुत, श्रुतमें स्वरूपानुभव-करणको कहा। परमात्माको उपादेय कहा। उसीरूप भाव सो भावश्रुतरस, उसे पी। अमरपद समाधिसे है। विचार, अनादिके भवभावनाका नाश, चिदानन्दके द्रव्य-गुण-पर्यायका विचार न्यारा जानकर, दर्शन-ज्ञानकी बानगीको पहिचानकर, चेतनमें मग्न होनेपर, ज्यों-ज्यों उपयोगस्वरूप लक्षणको लक्ष्यकर (जानकर) रसास्वाद पिए, त्यों-त्यों स्व-परभेद विचारमें सारपदको पाकर समाधि लगी। जिसकी अपार महिमा है ऐसे परमपदको प्राप्त हुआ। अनादिसे पर इन्द्रियजनित आनन्द मानता था वह मिटा, ज्ञानानन्दमें समाधि हुयी, वस्तुको वेदकर आनन्द हुआ, गुणको वेदकर आनन्द हुआ। परिणतिने स्वरूपमें विश्राम लिया तब आनन्द हुआ। एकदेश स्वरूपानन्द ऐसा है।

जहाँ इन्द्रिय-विकारबल विलयको प्राप्त हुआ है, मन-विकार नहीं है, सुख अनाकुल रसरूप समाधि आयी है, "अहं ब्रह्म," "अहं अस्मि" (मैं ब्रह्म हूँ, मैं हूँ) ऐसी ब्रह्म-प्रतीतिकी भावनामें, स्थिरतामें समाधि हुयी, वहाँ आनन्द हुआ। पहले तो कुछएक काल तक 'अहं' (मैं) ऐसा भाव रहता है, पश्चात् समाधिमें 'अहंपना' तो छूटे (और) 'अस्मि' अर्थात् 'हूँ' ऐसा भाव रहे, वहाँ दर्शन-ज्ञानमय हूँ, मैं समाधिमें लगता हूँ ऐसे 'मैं' का रहना भी विचार है।

वह मिटने पर विशेष इसप्रकार होता है कि—द्रव्यश्रुत वितर्कपना मिटकर स्वरूपमें एकत्व हुआ, एकतान रसरूपमें मनलीन होकर समाधि लगी, वहाँ विचारभेद मिटा। वीतरागरूप अनुभव—स्वसंवेदन भाव—हुआ। एकत्ववितर्कभावमें मन लगा, लीन हुआ, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्दका अभाव होनेसे स्वभावदर्शन (स्वभावज्ञान) का रसास्वाद करनेसे आनन्दमें वृद्धि हुयी, वहाँ जो 'अस्मिभाव' ज्ञानज्योतिमें था वह भी थका। (अटका, शांत हुआ)।

अब विवेकका स्वरूप, परिणति शुद्धिका स्वरूप इसप्रकार है:- जहाँ परमात्माका विलास निकट हुआ, वहाँ अनन्त गुणके रसको पुन: परिणाममें वेदन कर समाधि लगी। निर्विकार धर्मका विलास-प्रकाश हुआ, प्रतीतिमें रागादि-रहित भावनामें मनोविकार अधिक गया तब आगे अंश प्रशात हुआ, तब परके जाननेमें विस्मरणभाव आया, तब केवलज्ञान अति शीघ्रकालमें प्राप्त करता है, परमात्मा होकर लोका-लोकको जानता है। ऐसी अनुभवकी महिमा, मनका विकार मिटने पर होती है। वह मनविकार, मोहका अभाव होनेपर मिटता है। मोह, सर्व जीवोंका महारिपु है। अनादिसे संसारी जीवोंको चौरासीमें नचाता है और ससारी जीव हर्ष मान-मानकर भवसमुद्रमें गिरता है, कूदता है, (तथापि) अपनेको धन्य मानता है। देखो, भूलसे कैसी धृष्टता पकडी है ! अनन्त सुखदायक यथार्थ निजनिधिको नहीं सँभालता; इसलिए उन्हीं जीवोंको श्रीगुरु उपदेशामृत पीने योग्य है। जिससे मोह मिटे (और) अनुभव प्रकटे वह कहा जाता है :—

प्रथम श्री जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाकी प्रतीति करे, तत्पश्चात् भगवत्-प्रणीत उपादेय तत्त्व विचारे कि—अनन्त सुखधाम, अमल, अभिराम, आत्माराम, पररहित चैतन्यप्रकाश उपादेय है, पर हेय है। स्व-पर भेदज्ञानके निरन्तर अभ्याससे शुद्धचैतन्यतत्त्वकी लब्धि (प्राप्ति) होती है, उससे राग-द्वेष-मोह मिटता है, कर्मका संवर होता है, तब कर्म मिटनेसे निजज्ञानसे निर्जरा होती है। तब सकलकर्म क्षय (रूप) निजपरिणाम होनेसे भावमोक्ष होता है। तब द्रव्यमोक्ष होता ही होता है। इसलिए भेदज्ञानके अभ्याससे परमपद सिद्ध (होता) है। वह भेदज्ञान प्रकट करनेका विचार करनेमें आता है:—

ज्ञानभाव—जाननेरूप उपयोग—विभावभावको अपना जानता है; उस विभावको जाननेकी शक्तिको आत्मा अपनी जाने, जानने-रूप (ज्ञानरूप) परिणमन करे, ज्ञानरस पिए, विभावोंको न्यारा-

न्यारा जाने, विभावरूप कर्मधारा, ज्ञानपरिणामरूप सुधाधारा दोनों धाराओंको न्यारी-न्यारी जाने, पुद्गल-अंश आठ कर्म और शरीर भिन्न हैं, जड़ हैं, चेतन उपयोगमय है, (ऐसा) उनमें विवेचन करे, भिन्न प्रतीतिभाव करे कि शरीर प्रत्यक्ष जड़रूप रहता है, सदा (कभी भी) जिसमें चेतनाका प्रवेश नहीं होता, चेतना जड़ नहीं होती, यह प्रत्यक्ष सर्व ग्रन्थ कहते हैं, सर्व जन कहते हैं, जिनवाणी विशेष रूपसे कहती है, (तथा) अपने जाननेमें भी आता है। जड़ शरीर अनंत छोड़े (किन्तु) दर्शन-ज्ञान सदा साथ बने रहे, इससे वर्तमानमें भी देखने-जाननेवाला मेरा यह उपयोग, वही मेरा स्वरूप है। इससे उपयोगी-अनुपयोगीको विचारनेसे जड़-चेतनका प्रतीति होती है। विभाव कर्मचेतना है।कर्म—राग-द्वेष-मोहरूप भावकर्म उनमें चेतना परिणमती है तब चिद्विकार होता है। उस चिद्विकारको अपना मानकर अपनेको मलिन किया है। केवलज्ञान-प्रकाश आत्माका विलास है, उसे नहीं सँभालता। मोहवशसे ग्रन्थको सुनता है तथा जानता है। शरीर विनशेगा, परिवार, धन, स्त्री, पुत्र भी नहीं रहेंगे, परन्तु उनसे प्रेम करता है; नरकका बन्ध हो, (ऐसे) अनन्त दुःखके कारणको सुख समझता है।

ऐसी अज्ञानता मोहवशसे है, इसलिए ज्ञानप्रकाशरूप मेरा उपयोग सदा मेरा स्वरूप है, इससे सदा मेरा स्वभाव मुझमें है। कभी भी जिसका वियोग न हो, अनन्त महिमा-भंडार, अविकार, साररूप (सारस्वरूप) दुर्निवार मोहसे रहित हो (ऐसे) अनुपम आनन्दघनकी भावना करना। जड़ और पर जीवरूप सर्व परका प्रत्येक अंश स्वरूपसे भिन्न जानकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्त गुणमय मेरा स्वरूप है—ऐसा भाव प्रतीतिमें करनेसे, पर न्यारा भासित होता है। विभावरूप उपद्रव (औपाधिकभाव) अपने भ्रमसे हुआ, इससे भ्रम मिटानेसे विभाव नहीं होता, स्वभाव प्रगट होता है।

अनादिके अज्ञानसे ज्ञान गुप्त हुआ है; शुद्ध-अशुद्ध दोनों दशामें ज्ञान शाश्वत शक्ति सहित है। चिद्विकारभाव क्रोधादिरूप होनेपर होते हैं, इन भावोंको मिटाकर, स्वयं निर्विकार सहज भावको, अपनेमें आचरण-विश्राम-स्थिरताके परिणाम करके, करो। जो बाह्यमें परिणाम उठते हैं वे अशुद्ध हैं, उन परिणामोंका कर्त्ता अशुद्ध होता है। चेतनानाम (चेतनाभाव) बाह्य विकारमें नहीं आता, उपयोगरूप अपनी इस ज्ञायकशक्तिको यथार्थ (बराबर, निश्चयसे) जानो तो निजरूप स्थिर होगा। चेतन-उपयोगकी प्रतीति करते-करते परसे स्वामित्व मिटा-मिटाकर स्वरूपरसास्वाद चढ़ता-चढ़ता जाए; तब शुद्धोपयोग स्वरस-पूर्ण विस्तारको प्राप्त हो और तब कृतकृत्य होकर रहे। यह श्री जिनेन्द्रशासनमें स्याद्वाद-विद्याके बलसे निजज्ञानकलाको प्राप्त कर अनाकुल पदको अपना बनाए। यहाँ सर्व कहनेका तात्पर्य यह है कि परको अपना बनाना सर्वथा मिटाकर स्वरसरसास्वादरूप शुद्ध उपयोग करो। राग-द्वेष विषय-व्याधि (पाठान्तर—विषमव्याधि) है, उसे मिटा-मिटाकर परमपद अमर होता है; अतीन्द्रिय अखण्ड, अतुल, अनाकुल सुखको अपने पदमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वेदो। सर्व संत—मुनिजन पंच परम-गुरु स्वरूपका अनुभव करते हैं; इसलिए महाजन जिस पंथको पकड़कर पार हुए वही अविनाशीपुरका पंथ ज्ञानीजनोंको पकड़ना अनंत कल्याणका मूल है।

चेतनापरिणाम चेतनद्रव्यमें लीन होनेसे ज्ञानज्योतिका अचलपद उद्योत होता है। "एकदेश उपयोग शुद्ध करके स्वरूपशक्तिको ज्ञान-द्वारमें जानन-लक्षण द्वारा (ज्ञानलक्षण द्वारा) जानना"। अपना लक्ष्य-लक्षण प्रकाश अपनेमें भासे तब सहज धारावाही निजशक्ति व्यक्त (प्रकट) करते-करते सम्पूर्ण व्यक्तता करे तब यथावत्—जैसा तत्त्व है वैसा—प्रत्यक्ष जानता है। देखो! कोई भगल विद्या द्वारा कंकड़ोंको नीलम, हीरा, मोती बनाकर दिखलाता है, झाड़के तिनकेको सर्प बनाकर

दिखलाता है; वहाँ वस्तु लोगोंको सच्ची दिखलायी देती है, परन्तु वह सच्ची नहीं है, उसीप्रकार परमें निजपना मानकर अपनेको सुखकी कल्पना करता है वह सर्वथा झूठ है। सुखका प्रकाश परम अखण्ड चेतनाके विलासमें है। शुद्धस्वरूप स्वयं परमें खोज करे तो नहीं पायगा। बारम्बार इसलिए कहा जाता है :—अनादिका अविद्यामें डूब रहा है, मोहकी अत्यन्त निविड गाँठ पड़ी है, जिससे स्वपदकी भूल हुयी है। भेदज्ञानसे अमृतरस पिए तब अनन्त गुणधाम, अभिराम आत्मारामकी अनन्त शक्तिकी अनन्त महिमा प्रकट करे, यह इस सर्व कथनका मूल है। पर परिणामको दु:खधाम जानकर परकी मान्यता मिटाकर स्वरसका सेवन करना और निदान-पर (लक्ष्य-पर) दृष्टि लगाना।

दु:खका मूल ऐसे विनश्वर परका अनादिसे सेवन किया, इससे जन्मादि दु:ख हुए। अब नरभवमे सत्संगसे तत्त्वविचारका कारण मिला, तो फिर किसलिए अनादिके भव-संतानकी बाधा करनेवाले परभावोंका सेवन करे? जिससे यह अखण्डित, अनाकुल, अविनाशी, अनुपम (और) अतुल आनन्द हो वही भाव करना चाहिए। जिन भावोंको मनोहर जानकर मोह करता है वह अपने आत्माको झूठी अविद्याके विनोद द्वारा ठगता है। सकल जगत्चरित्र झूठा ही बना है, वह मोहवश नहीं जानता। यदि स्वरससेवन (करे) तो परप्रीतिकी रीति रच भी न धारे, (और) अनन्त महिमा भण्डारको ज्ञानचेतनामें अपनेरूप अनुभवे। 'जो–जो उपयोग उठता है सो मैं हूँ'—ऐसा निश्चय भावोंमें करेगा वह तरेगा ही तरेगा। अनादिका विचार करे कि अनादिसे परमें अपनेको जानकर दु:ख सहा। अब श्रीगुरुने ऐसा उपदेश[1] कहा है उसे सत्यरूप मानते ही श्रद्धासे मुक्तिका नाथ होता

१. भैया जगवासी त उदासी ह्वैके जगतसौं,
एक छ महीना उपदेश मेरो मानु रे;

है, इसलिए धन्य है सद्गुरुको कि जिन्होंने भवगर्भमेसे निकलनेका उपाय बतलाया। इससे श्रीगुरु जैसा उपकारी कोई नहीं है; —ऐसा जानकर श्रीगुरुकी प्रवचन-प्रतीतिसे पार होना।

जितना अनुराग विषयोंमे करता है, मित्र, पुत्र, भार्या, धन, शरीरमें करता है—उतनी रुचि, श्रद्धा, प्रतीतिभाव स्वरूपमें तथा पंच परमगुरुमें करे तो मुक्ति[1] अति सुगम हो। पंच परमगुरुका राग भी ऐसा है; जैसे सध्याकी लाली सूर्यकी अस्तताका कारण है, प्रभातकी-सध्याकी लाली सूर्योदयको करती है। उसीप्रकार विविध (पंच प्रकारके) परमगुरुके बिना, शरीरादिका राग—केवलज्ञानकी अस्तताका कारण है, (और) पंच परमगुरुका राग केवलज्ञानके उदयका कारण है। इसलिए विशेषत: परम धर्मके दाताके प्रति परम धर्मके अनुभवके प्रति राग सुखदायक है। अर्थ (लक्ष्मी) अनत अनर्थको करता है, वह किसी अर्थका नही है, अर्थ तो वही कि जो परमार्थको साधे। उसके द्वारा कामसे क्या काम? निजकामनासे काम, वह सुकामको सुधारती है। मिथ्यारूपधर्म अनत संसारको करता है, वह धर्म कैसा? सर्वज्ञप्रणीत निश्चय निजधर्म है, व्यवहार-रत्नत्रयरूप कारण है। मोक्ष वही कि जो पुन: कर्मबन्ध न करे,

---

और संकल्पविकल्पके विकार तजि,
बैठिकै एकान्तमन एक ठौर आनु रे।
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे;
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यों ही आनु रे। ३।

—समयसार नाटक, अजीव द्वार

१. जैसी भक्ति हरामयैं तैसी जिनमें होय;
भेदज्ञानतैं सहज लहि परमातमपद सोय।

(इसलिए) ऐसा विचारना कि—जिसप्रकार दीपकको मन्दिरमें रखनेसे प्रकाश हो तो सर्व सूझता है, उसीप्रकार ज्ञानीको ज्ञानप्रकाशसे सर्व सूझता है।

किस प्रकार ? ज्ञान द्वारा विचारे—शरीरमें चेतन है। दृष्टि द्वारसे देखता है, ज्ञानद्वारसे जानता है। अपने उपयोग द्वारा स्वयं चेतन हूँ। स्वयं ऐसा जाने कि देहमे देहको देखनेवाला मेरा स्वरूप चेतनरूप है—सो जड़को चलाता[1] है, चेतन प्रेरक है। अचेतन अनुपयोगी जड़ देखता नहीं है, जानता नहीं है यह तो प्रसिद्ध है। यदि शरीर देखता–जानता हो तो जब जीव गत्यंतर होता है तब शरीर क्यों नहीं देखता ? इसलिए इस देखने–जानने द्वारा अपनेको चेतनरूप प्रत्यक्ष बराबर निश्चय करके, स्वरूपको चेतन मानकर, अचेतनका अभिमान छोड़ना (वह) मोक्षका मूल है।

शरीर वासनाको त्याग कर, अपना स्वरूप अवगाढ़ चेतनस्वरूप करके (चेतनस्वरूपरूप) भाना। उज्जडको बस्ती मानता है (और) चेतनबस्तीको उज्जड मानता है, ऐसी भूल मिटाकर तेरी चेतनाबस्ती शाश्वत है वहाँ बसे तो अपना अनन्तगुणनिधान न लुटाए, निज-धनका धनी परम शाह हो, तब अनन्त सुखव्यापारमें अविनाशी लाभ हो। अनादिसे परमें अपनत्व माना, परको ग्रहण करते–करते पर-वस्तुका चोर हुआ। जगतमे (जन्मादिके) दुःखदण्ड भोगता है। विवेक राजाका अमल (शासन) हो और परग्रहणरूप चोरी मिटे तब स्वयं शाहपद धारण कर सुखी हो। तब निजपरिणति रमणीसे अपना निजघर स्थिर करे।

---

१. यह कथन निमित्तसे है। निमित्तसे कथन करके देखने-जाननेवाला स्वयं चेतनारूप है ऐसा निश्चित करते हैं। वास्तवमें तो जड़ जड़को चलाता है, चेतन जड़को नहीं चलाता।

अनादिसे अस्थिर पदका प्रवेश था, उसे त्यागकर अखण्ड अविनाशी पदमें पहुँचे। स्वरूपका अनुभव वह साक्षात् शिवमार्ग (मोक्षमार्ग) है, स्वरूपका अनुभव वह शिवपद है, अनुभव त्रिभुवन-सार है, अनुभव अनंत कल्याण है, अनुभव महिमा भण्डार है, अनुभव अतुल बोधफल है, अनुभव स्वरसरस है, अनुभव स्वसंवेदन है, अनुभव तृप्तिभाव है, अनुभव अखण्डपद सर्वस्व है, अनुभव रसास्वाद है, अनुभव विमलरूप है, अनुभव अचल ज्योतिरूपको प्रकट करनेवाला है। अनुभव, अनुभवके रसमें अनन्त गुना रस है, पंच परमगुरु अनुभवसे[1] हुए और होंगे। सकल संत, महंत, भगवंत अनुभवमें लगे हैं; इसलिए जो गुणवान हैं वे अनुभव करो। सकल जीवराशि स्वरूपको अनुभवो। इस अनुभव-पंथको निर्ग्रन्थ साध-साधकर भगवान् हुए।

परिग्रहवान सम्यग्दृष्टि भी कभी-कभी अनुभव करते हैं वे धन्य हैं, मोक्षके साधक हैं। जिस समय स्वरूप-अनुभव करता है उस समय सिद्धसमान अम्लान आत्मतत्त्वको अनुभवता है। एकदेशस्वरूपानुभवमें स्वरूपानुभवकी सर्वस्व जाति पहचानी है। अनुभव पूज्य है, परम है, धर्म है, सार है, अपार है, उद्धार करता है, अविकार है, भवपार करता है, महिमाको धरता है, दोषको हरता है, उससे चिदानंदका सुधार है।

(सवैया)

देव जिनेन्द्र मुनीन्द्र सबै अनुभौ रस पीयकें आनद पायौ;
केवलज्ञान विराजत हैं नित सो अनुभौ रस सिद्ध लखायौ।

---

१. गुण अनंतके रस सबै अनुभवरसके मांहि;
यातैं अनुभौ सारिखौ और दूसरो नांहि। १५३।
पंच परमगुरु जे भये जे होंगे जगमांहि;
ते अनुभौ परसादतैं यामैं धोखो नांहि। १५४। (ज्ञानदर्पण)

एक निरंजन ज्ञायकरूप अनूप अखण्ड स्वभाव सुहायो;
ते धनि हैं जगमांहि सदैव सदा अनुभौ निज आपकौं भायौ ।१।

(अडिल्ल)

यह 'अनुभव-प्रकाश' ज्ञान निज दाय है;
करि याको अभ्यास संत सुख पाय है।
यामें अर्थ अनूप सदा भवि सरद है;
कहै "दीप" अविकार आप पदकौं लहै।१।

इति श्री दीपचन्द साधर्मीकृत 'अनुभव-प्रकाश' नामक ग्रन्थ सम्पूर्णम् ।

जिन्हे आत्माको समझनेके लिए अन्तरमें सच्ची धुन और छटपटी लगे, उन्हें अन्तरमार्ग समझमें आए बिना रहे ही नहीं। वे स्वयंके जोरसे अन्तरमें मार्ग बनाकर आत्मस्वरूपको प्राप्त कर ही लेते हैं।

—पू० गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

शुद्धि-पत्रक

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	२१	शौर्यवानको	शौर्यवानके
१७	५	ढूंढ-ढूंढकर	ढूंढ-ढूंढकर
२१	७	शरोर	शरीर
२२	१३	कंगल	कंगाल
५८	२१	तादाम्य	तादात्म्य
६३	१७	ँधन	ईंधन
७०	१५	कर्म-अश	कर्मअश

परद्रव्य-ओरकी वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ—पर वह आत्मा नहीं है; स्व-रूपसे अनुभवमें आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञानके स्वसंवेदनकी कला ही मोक्षकी कला है। आत्मानुभवकी यह कला ही सच्ची कला है, इसका बारम्बार अभ्यास करना योग्य है। दुःखसे छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावोंसे भिन्न आत्माको जानकर, इसीका अभ्यास करना योग्य है।

—पू० गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

हमारे प्रकाशन

पुष्प		नाम	प्रत
१	श्री	प्रवचनसार (गुजराती)	१५००
२	,,	प्रवचनसार (हिन्दी) प्रथम आवृत्ति	२१००
	,,	प्रवचनसार (हिन्दी) द्वितीय आवृत्ति	२१००
३	,,	पंचास्तिकाय (गुजराती)	१०००
४	,,	पंचास्तिकाय (हिन्दी)	२५००
५	,,	समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००
६	,,	अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००
७	,,	अनुभवप्रकाश (गुजराती)	२१००
८	,,	परमात्मप्रकाश (गुजराती) प्रथम आवृत्ति	११००
	,,	परमात्मप्रकाश (गुजराती) द्वितीय आवृत्ति	३०००
९	,,	समयसार कलशटीका (हिन्दी)	२०००
१०	,,	आत्मावलोकन (गुजराती)	२०००
११	,,	समाधितंत्र (गुजराती)	२०००
१२	,,	बृहद् द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००
१३	,,	ज्ञानामृत (गुजराती) प्रथम आवृत्ति	२०००
	,,	ज्ञानामृत (गुजराती) द्वितीय आवृत्ति	५०००
१४	,,	योगसार (गुजराती)	२०००
१५	,,	अध्यात्म-संदेश (गुजराती)	२०००
१६	,,	पद्मनन्दि-पंचविंशति (गुजराती)	३०००
१७	,,	समयसार (गुजराती)	३१००
१८	,,	समयसार (हिन्दी)	२५००

पृष्ठ		नाम	प्रत
१९	श्री	अध्यात्मिक-पत्र (स्व० श्री निहालचन्दजी) (गुजराती)	३०००
२०	,,	द्रव्य-दृष्टि-प्रकाश (गुजराती)	१०,०००
२१	,,	पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	२१००
२२	,,	क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००
२३	,,	अध्यात्मपराग (गुजराती) प्रथम आवृत्ति	२०००
	,,	अध्यात्मपराग (गुजराती) द्वितीय आवृत्ति	१०००
२४	,,	पञ्चप्रवतार (हिन्दी)	८०००
२५	,,	परमागमसार (गुजराती)	५०००
२६	,,	वचनामृत-प्रवचन भाग–१ (गुजराती)	३०००
२७	,,	वचनामृत-प्रवचन भाग–२ (गुजराती)	२०००
२८	,,	वचनामृत-प्रवचन भाग–३ (गुजराती)	२०००
२९	,,	ज्ञानामृत (हिन्दी)	३०००
३०	,,	निर्भ्रान्तदर्शननी केडीए (गुजराती)	३०००
३१	,,	निर्भ्रान्तदर्शनकी पगडंडी पर (हिन्दी)	५०००
३२	,,	अनुभवप्रकाश (हिन्दी)	२०००
३३	,,	परमागमसार (हिन्दी)	२०००
			१,१०,१००